

April 2020

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

अप्रैल २०२०



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन अप्रैल २०२०

विषय-सूची

‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

शरीर की पूर्णता	श्रीअरविन्द ३
एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र	‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६ से १०
कर्मों का आनन्द	श्रीअरविन्द १८
१३ अगस्त १९५८ के वार्तालाप का अंश	‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ९ से २२
कठिनाइयों में श्रीमाँ की सहायता	श्रीअरविन्द २५
प्रेम के बदले प्रेम	‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३ से २६
श्रीअरविन्द के उत्तर (७६)	२७

‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

अपने अन्तिम गद्य-लेखनों में श्रीअरविन्द ने *Bulletin of Physical Education*—शारीरिक शिक्षण की पत्रिका—(जिसका बाद में नाम बदल कर *Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education*—श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र-पत्रिका—कर दिया गया था) के लिए आठ लेख लिखे थे। यह त्रैमासिक पत्रिका फ़रवरी १९४९ में शुरू हुई थी। ये लेख १९४९ तथा १९५० के अंकों में प्रकाशित हुए थे। १९५० में श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के साथ यह कड़ी टूट गयी। बाद में १९५२ में *पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति* के नाम से यह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई।

शरीर की पूर्णता

इस पूर्णता की प्राप्ति की दो शर्तें हैं—शरीर की चेतना को यथासम्भव अधिक-से-अधिक सम्पूर्ण रूप में जाग्रत् करना और उसकी अन्तर्निहित शक्तियों को सुशिक्षित और प्रबुद्ध करना तथा साथ ही पूर्ण और समग्र रूप में तथा यथासम्भव विभिन्न दिशाओं में एकसमान विकसित करना। यह आधार या शरीर, निस्सन्देह, अपने मूल रूप में निश्चेतना की सृष्टि है और यह चारों ओर से उसके द्वारा सीमित है, पर साथ ही उस निश्चेतना की सृष्टि है जो अपने अन्दर छिपी हुई गुप्त चेतना को विकसित कर रही है और ज्ञान की ज्योति में, शक्ति में और आनन्द में वर्धित हो रही है। हमें इस शरीर को ठीक उसी स्थान पर ग्रहण करना होगा जहाँ यह इन विषयों में अपने मानव-क्रमविकास के द्वारा पहुँचा है, जहाँ तक सम्भव हो उनका पूरा और अधिक-से-अधिक उपयोग करना होगा और इस क्रमविकास को एक ऐसे ऊँचे स्तर तक बढ़ा ले जाना होगा जहाँ तक ले जाना मनुष्य की व्यक्तिगत प्रकृति और स्वभाव की शक्ति स्वीकार करे। संसार के सभी आकारों में एक शक्ति कार्य कर रही है, यह अपनी निम्नतर रचनाओं में अचेतन रूप से क्रिया कर रही है या तामसिकता के द्वारा दबी हुई है, परन्तु मनुष्य के अन्दर आरम्भ से ही सचेतन है, इसकी शक्तियाँ अंशतः जाग्रत् हैं, अंशतः सुप्त या गुप्त हैं; जो कुछ इसमें जाग्रत् है उसे हमें पूर्ण रूप से सचेतन बनाना होगा; जो कुछ सुप्त है उसे जगाना और कार्य में लगाना होगा; जो कुछ गुप्त है उसे बाहर निकालना और सुशिक्षित बनाना होगा। यहाँ शरीर-चेतना के दो रूप हैं, एक तो वह जो एक प्रकार का स्वयं-सञ्चालित यन्त्र-जैसा है जो भौतिक स्तर में मन के किसी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना ही कार्य करता रहता है और कुछ अंशों में उसका कार्य मन के प्रत्यक्ष दर्शन की सम्भावना से भी एकदम परे होता है अथवा, अगर सचेतन या देखने-योग्य होता भी है फिर भी जब वह एक बार आरम्भ हो जाता है तब मन के किसी निर्देश की आवश्यकता के बिना ही स्वरूपतः एक यान्त्रिक क्रिया के द्वारा चलता रहता है या चलते रहने में समर्थ होता है और जब तक मन हस्तक्षेप नहीं करता तब तक

चलता ही रहता है।

शरीर की कुछ और गतियाँ भी हैं जिनकी शिक्षा और जिनका अभ्यास शरीर को मन से प्राप्त होता है और जो विचार या संकल्पशक्ति के ध्यान न देने पर भी अपने-आप लेकिन निर्भूल कार्य कर सकती हैं। कुछ दूसरी गतियाँ हैं जो स्वप्न में कार्य कर सकती हैं और जाग्रत् बुद्धि के लिए उपयोगी फल उत्पन्न कर सकती हैं। परन्तु सबसे अधिक प्रधान चीज़ वह है जिसे हम, सुशिक्षित और विकसित सहज यन्त्र-शक्ति कह सकते हैं; वह आँख, कान और हाथ की तथा अन्य सभी अंगों की एक ऐसी पूर्णताप्राप्त कुशलता और क्षमता है जो उनकी ओर की जाने वाली किसी भी पुकार का उत्तर तुरत देती है, जो एक यन्त्र के जैसी अपने-आप होने वाली उन्नत क्रिया है, मन और प्राणशक्ति चाहे जो भी माँग उससे करें उसे पूरा करने के लिए एक पूर्ण योग्यता है। साधारणतया यही वह उत्तम-से-उत्तम सिद्धि है जिसे हम इस निम्नतर छोर में तब प्राप्त कर सकते हैं जब हम इस छोर से आरम्भ करते हैं और इस छोर के उपयुक्त साधनों और पद्धतियों से अपने-आपको सीमित करते हैं। इससे अधिक प्राप्त करने के लिए हमें स्वयं मन और प्राणशक्ति की ओर या आत्मा की शक्ति की ओर तथा शरीर की महत्तर पूर्णता के लिए वे जो कुछ कर सकते हैं उसकी ओर मुड़ना ही होगा। इस भौतिक क्षेत्र में भौतिक साधनों के द्वारा जो हम अधिक-से-अधिक कर सकते हैं वह भी निश्चित रूप से सन्दिग्ध और साथ ही सीमाओं से आबद्ध होता है; यहाँ तक कि जो शरीर का पूर्ण स्वास्थ्य और सामर्थ्य प्रतीत होता है वह भी अनिश्चित होता है और किसी भी समय अन्दर के पतन या बाहर से आने वाले प्रबल आक्रमण या आघात के कारण भंग हो सकता है; केवल हमारी सीमाओं के टूट जाने पर ही एक उच्चतर और अधिक स्थायी पूर्णता आ सकती है। एक विशेष दिशा में हमारी चेतना अवश्य वर्धित होनी चाहिये और वह यह है कि अपने शरीर पर, उसकी क्रियाओं पर तथा हमारी सत्ता के उच्चतर अंशों के प्रति शरीर का जो अधिक सचेतन प्रत्युत्तर हो उसके ऊपर अन्दर से या ऊपर से पड़ने वाला हमारा अधिकार निरन्तर बढ़ता रहे। मन ही प्रधानतया मनुष्य है; वह मनोमय पुरुष है और जितना ही अधिक वह उपनिषद् के वर्णन को अपने जीवन में सिद्ध करता है, मनोमय पुरुष, प्राण और शरीर का नेता बनता है, उतनी ही अधिक उसकी मानव पूर्णता बढ़ती है। अगर मन प्राणशक्ति, सूक्ष्म शारीर चेतना और शरीर की सहज प्रेरणाओं और यन्त्रवत् क्रियाओं को अपने हाथ में ले और उन्हें संयमित करे, अगर वह उनके अन्दर प्रवेश करे, ज्ञानपूर्वक उनका व्यवहार करे, और जैसा कि हम कह सकते हैं, उनके सहज-प्रेरणात्मक या यन्त्रवत् कार्यों को पूर्णतः मनोमय रूप दे दे तो इन शक्तियों की पूर्णता, उनकी क्रिया भी अधिक सचेतन और अपने विषय में अधिक सज्ञान और अधिक पूर्ण बन जाती है। परन्तु मन के लिए भी यह आवश्यक है कि वह भी पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो और उस समय वह इसे सबसे अच्छे ढंग से तब कर सकता है जब वह भौतिक मन की भ्रान्त बुद्धि-शक्ति के ऊपर कम निर्भर करता है, जब वह युक्ति-तर्क की अधिक व्यवस्थित और सही-सही क्रिया के द्वारा भी सीमित नहीं रहता और अन्तर्ज्ञान के अन्दर उन्नत हो जाता है और एक विशालतर, गभीरतर

और घनिष्ठतर दृष्टि तथा उच्चतर सम्बोधिसुलभ संकल्पशक्ति की अधिक ज्योतिर्मयी प्रेरणा को प्राप्त करता है। आज मन के वर्तमान क्रमविकास की सीमाओं के अन्दर भी यह अन्दाज़ लगाना कठिन है कि किस हद तक मन शरीर की शक्तियों और क्षमताओं के ऊपर अपने अधिकार को फैलाने और उनका उपयोग करने में समर्थ हो सकता है और जब मन और भी उच्चतर शक्तियों को प्राप्त होता है और अपनी मानव सीमाओं को पीछे फेंक देता है तब तो किसी प्रकार की सीमा बाँधना असम्भव हो जाता है; कुछ अनुभूतियों में तो शरीर के अंगों की अपने-आप होने वाली क्रियाओं में संकल्प-शक्ति का हस्तक्षेप करना भी सम्भव प्रतीत होता है।

जहाँ कहीं सीमाएँ दूर होती हैं या जिस परिमाण में दूर होती हैं वहाँ शरीर आत्मा के कार्य का एक अधिक नमनीय और अनुगत तथा उसी परिमाण में अधिक योग्य और पूर्ण यन्त्र बन जाता है। यहाँ, इस पार्थिव जगत् में सभी फलोत्पादक और अभिव्यञ्जक क्रियाओं में हमारी सत्ता के दोनों छोरों की सहयोगिता अनिवार्य होती है। अगर शरीर थकावट के कारण या स्वाभाविक अयोग्यता के कारण या किसी दूसरे कारण से विचार या संकल्पशक्ति का अनुमोदन करने में असमर्थ हो या किसी तरह अनुगत न हो या अपर्याप्त रूप में अनुगत हो तो उस हद तक कर्म असफल हो जाता है या अधूरा रह जाता है या कुछ हद तक असन्तोषजनक या अपूर्ण हो जाता है। मनुष्य के अन्दर जो कविता की प्रेरणा प्रवाहित होती है और जो आत्मा का एक कार्य प्रतीत होती है और जो इतनी विशुद्ध मानसिक क्रिया होती है, उसमें भी यह आवश्यक होता है कि मनुष्य के मस्तिष्क में उसे ग्रहण करने वाला एक प्रकम्पन हो और विचार और दर्शन की जो शक्ति और शब्द की जो ज्योति मस्तिष्क के अन्दर से रास्ता बनाती या रास्ता फोड़ती हुई आती है अथवा अपने-आपको पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है उसकी एक प्रणाली के रूप में मस्तिष्क उद्घाटित हो जाये। अगर मस्तिष्क थका हो या किसी अवरोध के कारण मन्द हो गया हो तो या तो वह प्रेरणा आ ही नहीं सकती और कुछ भी नहीं लिखा जा सकता अथवा वह क्षीण हो जाती है और निम्न कोटि की ही कोई चीज़ बस प्रकट हो सकती है; अथवा जो ज्योतिर्मय रचना रूप ग्रहण करने की चेष्टा कर रही थी उसका स्थान कोई दूसरी ही निम्न कोटि की प्रेरणा ग्रहण कर लेती है अथवा मस्तिष्क के लिए किसी कम प्रकाशपूर्ण उद्दीपन की ओर झुकना अधिक आसान हो जाता है अथवा वह परिश्रम करता है और रचता है या कविता के कौशल का प्रत्युत्तर देता है। अत्यन्त विशुद्ध मानसिक क्रियाओं में भी शरीर-रूपी यन्त्र का योग्य होना, तैयार होना या उसका पूर्ण रूप से सुशिक्षित और अभ्यस्त होना अनिवार्य होता है। यह तैयारी, यह अनुकूलता भी शरीर की सर्वांगीण पूर्णता का एक अंग है।

यहाँ वर्धमान क्रमविकास का मूल उद्देश्य और लक्षण है, आपाततः निश्चेतन दीखने वाले विश्व में चेतना का आविर्भाव, चेतना की वृद्धि और उस वृद्धि के साथ-साथ सत्ता की ज्योति और शक्ति की वृद्धि; केवल रूप का विकास और उसकी क्रिया या उसके बने रहने की योग्यता ही, अनिवार्य होने पर भी, क्रमविकास का सम्पूर्ण अर्थ या केन्द्रीय उद्देश्य नहीं है। हमारे जीवन

का लक्ष्य जो चरम और सर्वांगीण पूर्णता है, उसकी ओर प्रगति करने की शर्त है चेतना का अधिकाधिक जाग्रत् होना और उसका उच्च से उच्चतर स्तरों तक आरोहण करना और दृष्टि तथा कर्म के बृहत्तर क्षेत्रों को प्राप्त करना। यही शरीर की सर्वांगीण पूर्णता प्राप्त करने की भी शर्त है। आज हम मन के विषय में जो कुछ कल्पना करते हैं, उससे ऊपर मन के बहुत-से स्तर हैं और एक दिन हमें उन स्तरों पर पहुँचना ही होगा और उनसे भी ऊपर एक महत्तर, आध्यात्मिक सत्ता की ऊँचाइयों पर आरोहण करना होगा। जैसे-जैसे हम ऊपर उठेंगे वैसे-वैसे हमें अपने निम्नतर अंगों को उनकी ओर खोलना होगा और ज्योति और शक्ति की उन श्रेष्ठतर और परात्पर कर्मशक्तियों से अपने निम्नतर अंगों को भी भर देना होगा; शरीर को भी हमें अधिकाधिक, और यहाँ तक कि सम्पूर्ण रूप में एक सचेतन ढाँचा और यन्त्र बना देना होगा। आत्मा का एक सचेतन प्रतीक, मुहर-छाप और शक्ति बना देना होगा। जैसे-जैसे यह शरीर इस पूर्णता की ओर अग्रसर हो, वैसे-वैसे इसकी कर्म करने की शक्ति और क्षेत्र का विस्तार होना चाहिये, आत्मा का अनुगत होने और उसकी सेवा करने की इसकी शक्ति बढ़नी चाहिये; इसके ऊपर आत्मा का अधिकार भी अवश्य बढ़ना चाहिये और इसकी दोनों प्रकार की क्रियाओं में—इसकी जिन शक्तियों को विकसित किया गया हो और साधना से प्राप्त किया गया हो, उनकी क्रिया में, तथा इसकी जो अपने-आप होने वाली क्रियाएँ हैं, नीचे की विशुद्ध इन्द्रियगत क्रियाएँ तथा यन्त्रवत् होने वाली निश्चेतना की क्रियाएँ हैं, उन सबमें भी—नमनशीलता बढ़नी चाहिये। यह एक सच्चे रूपान्तर के बिना कभी सम्भव नहीं हो सकता और मन, प्राण और शरीर तक का रूपान्तर ही वास्तव में वह परिवर्तन है जिसकी ओर हमारा क्रमविकास गुप्त रूप से अग्रसर हो रहा है और इस रूपान्तर के बिना इस पृथ्वी पर प्राप्त होने वाले दिव्य जीवन का पूर्ण पूर्णत्व कभी नहीं प्रकट हो सकता। इस रूपान्तर के अन्दर स्वयं शरीर भी एक 'एजेंट' और हिस्सेदार बन सकता है। निस्सन्देह यह सम्भव है कि अगर आत्मा अपनी स्थूल क्रियाओं के अन्तिम या सबसे नीचे के आधार के रूप में केवल एक निष्क्रिय और अपूर्ण रूप से सचेतन शरीर प्राप्त करे फिर भी वह पर्याप्त मात्रा में अपने-आपको अभिव्यक्त कर सकती है, पर वह पूर्ण या सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अगर शरीर पूर्ण रूप से सचेतन हो तो वह पार्थिव रूपान्तर की उचित पार्थिव पद्धति और प्रक्रिया को भी ढूँढ़ सकता और उसे क्रियान्वित कर सकता है। इसके लिए, निश्चय ही, परात्पर आत्मा की ज्योति और शक्ति और सृजनात्मक आनन्द व्यष्टि चेतना के शिखर पर अभिव्यक्त होने चाहियें और नीचे शरीर तक में उनका निर्देश आना ही चाहिये, पर फिर भी शरीर आत्मानुसन्धान और आत्मसिद्धि के इस कार्य में अपनी इच्छानुसार भाग ले सकता है। इस तरह यह अपने निजी रूपान्तर में तथा सारी सत्ता के समग्र रूपान्तर में हिस्सा बँटा सकता और कार्य कर सकता है और यह भी शरीर की समग्र पूर्णता का एक अंग, एक लक्षण और प्रमाण होगा।

अगर चेतना का आविर्भाव और वृद्धि ही क्रमविकास का केन्द्रीय उद्देश्य और उसके गुप्त आशय की सिद्धि की कुञ्जी हो तो फिर उस क्रमविकास के निजी स्वभाववश ही इस

वृद्धि का अर्थ केवल चेतना की क्षमताओं का विस्तार, अधिकाधिक विशाल होना ही नहीं होगा, बल्कि उसका क्रमशः उच्च से उच्चतर स्तरों पर आरोहण भी होगा, जब तक कि वह उच्चतम शिखर तक नहीं पहुँच जाती। क्योंकि यह क्रमविकास निवर्तन के अधस्तम स्तर से निश्चेतना के अन्दर से आरम्भ होता है जिसे हम जड़तत्त्व में कार्य करते हुए और जड़विश्व को उत्पन्न करते हुए देखते हैं; यह अज्ञान से आरम्भ करता है जो फिर भी नित्य-विकसनशील ज्ञान है और जो अधिकाधिक महत्तर ज्योति, महत्तर संगठन, संकल्पशक्ति की सफलता और अपनी समस्त अन्तर्निहित और प्रकटनशील शक्तियों के सामञ्जस्य की ओर अग्रसर हो रहा है; यह अन्त में एक ऐसे स्थान पर अवश्य पहुँचेगा जहाँ यह अपनी क्षमता के सम्पूर्ण पूर्णत्व को विकसित करेगा या प्राप्त करेगा और वह एक ऐसी अवस्था या क्रिया होगी जिसमें अब अज्ञान ज्ञान की खोज नहीं करेगा, बल्कि स्वयं ज्ञान अपने-आपको अधिकृत करेगा, सत्ता में ओतप्रोत होगा, अपने सत्यों का स्वामी होगा और ऐसी स्वाभाविक दृष्टि और शक्ति से उन्हें कार्यान्वित करेगा जो सीमा या भूल-भ्रान्ति से अभिभूत नहीं होती। अथवा, अगर कोई सीमा होती है तो वह अपनी ओर से आरोपित एक परदे के समान होती है जिसके पीछे यह सत्य को काल के अन्दर अभिव्यक्त होने के लिए रख छोड़ता है, पर इच्छा के अनुसार तथा किसी खोज-तलाश के बिना या वस्तुओं को समुचित रूप से देखने के क्रम को प्राप्त किये बिना अथवा काल की माँग के अनुसार जो कुछ अभिव्यक्त करने की आवश्यकता है उसके ठीक क्रम के अनुसार बाहर निकाल सकता है।

इसका अर्थ होगा उस चेतना में प्रवेश करना या उसके समीप पहुँचना जिसे हम स्वयम्भू सत्य-चेतना कह सकते हैं, जिसमें पहुँचने पर सारी सत्ता अपने अन्दर निहित सत्य वस्तुओं के विषय में सचेतन हो सकती है और कालान्तर्गत सृष्टि के अन्दर, जिसमें सब कुछ अपनी अध्रान्त गतियों का अनुसरण करने वाला और अपने सामञ्जस्यों को एकत्र करने वाला सत्य होगा, उन्हें अभिव्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति प्राप्त कर सकती है; उस समय प्रत्येक विचार, संकल्प, अनुभव और कर्म स्वभावतः ही ठीक होगा, सत्य होगा, अन्तःप्रेरित या सम्बोधिजन्य होगा, सत्य की ज्योति से परिचालित होने वाला और इसलिए पूर्ण होगा। सब कुछ आत्मा के स्वाभाविक सत्य को, सद्वस्तुओं को प्रकट करेगा; वहाँ सर्वत्र आत्मा की शक्ति की कुछ पूर्णता अवश्य रहेगी। उस समय मनुष्य मन की वर्तमान सीमाओं को पार कर जायेगा; मन सत्य की ज्योति की दर्शनशक्ति, संकल्प सत्य की शक्ति, प्राण सत्य की क्रमवर्धमान संसिद्धि और स्वयं शरीर सत्य का एक सचेतन पात्र और अपनी आत्मसंसिद्धि के साधन का एक अंश और अपनी आत्मचेतन सत्ता का एक रूप बन जायेगा। इसी सत्य-चेतना की, कम-से-कम किसी आरम्भिक अवस्था को, इसके आरम्भिक रूप और कार्य को हमें प्राप्त करना होगा और उन्हीं की प्रथम क्रिया के अन्दर प्रवेश करना होगा—अगर जड़तत्त्व के इस जगत् में कोई दिव्य जीवन प्राप्त करना हो अथवा अध्यात्मभावापन्न चेतना की किसी पूर्ण अभिव्यक्ति को सिद्ध करना हो। अथवा, कम-से-कम, ऐसी किसी सत्य-चेतना का हमारे मन, प्राण और शरीर के साथ सम्बन्ध

स्थापित होना चाहिये, उसे अवतरित होकर इन्हें स्पर्श करना चाहिये, इनकी दृष्टि और कर्म को संयमित करना चाहिये, इनकी प्रेरक शक्तियों को परिचालित करना चाहिये, इनकी शक्तियों को अपने अधिकार में करके उनकी दिशा और लक्ष्य को निर्धारित करना चाहिये। यह सम्भव है कि इस सत्य-चेतना का स्पर्श पाने वाले सभी लोग इसे पूर्ण रूप से मूर्तिमान् करने में समर्थ न हों, परन्तु प्रत्येक मनुष्य अपने आध्यात्मिक मनोभाव, आन्तरिक क्षमता तथा अपनी प्रकृति की क्रमोन्नति की धारा के अनुसार इसको कुछ-न-कुछ रूप प्रदान करेगा; वह उस पूर्णता को निर्विघ्न प्राप्त करेगा जिसे तुरत प्राप्त करना उसके लिए सम्भव होगा और वह आत्मा के सत्य और प्रकृति के सत्य को पूर्ण रूप से अधिकृत करने के मार्ग पर आरुढ़ हो जायेगा।

ऐसी सत्य-चेतना की क्रिया के अन्दर अपने सत्य के कार्यों को ज्ञानपूर्वक देखने और उसके लिए संकल्प करने की एक प्रकार की स्वाभाविक शक्ति वर्तमान रहेगी और वह उस निश्चेतन या देखने में निश्चेतन शक्ति की निर्भूल यन्त्रवत् क्रिया का स्थान ग्रहण करेगी जिसने एक आपातदृष्ट शून्य में से सुव्यवस्थित विश्व की आश्चर्यजनक सृष्टि की है, और वह दिव्य पुरुष की अभिव्यक्ति के एक नवीन क्रम का सृजन करेगी जिसमें एक पूर्णांग पूर्णता प्राप्त करना सम्भव होगा, यहाँ तक कि अन्तिम सम्भावना के दायरे के अन्दर एक चरम और सर्वांगीण पूर्णता भी प्रकट होगी। अगर हम इस शक्ति को जड़-जगत् के अन्दर नीचे खींच ले आ सकें तो मानव-परिपूर्णता का हमारा युग-युगान्तर का स्वप्न, व्यक्तिगत पूर्णता, जाति की, समाज की परिपूर्णता, अपने ऊपर आन्तरिक प्रभुत्व और प्रकृति की शक्तियों के ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने, उनका परिचालन और व्यवहार करने की क्षमता इत्यादि चीजें अन्त में अपनी सर्वांग परिपूर्णता की सम्भावना को प्राप्त हो सकेंगी। मनुष्य की यह पूर्ण आत्मसिद्धि सब प्रकार की सीमाओं का एकदम अतिक्रमण कर सकती है और एक प्रकार के दिव्य जीवन के रूप में परिवर्तित हो सकती है। जड़तत्त्व प्राण की शक्ति और मन की ज्योति को अपने अन्दर ग्रहण करने और उन्हें अभिव्यक्त करने के बाद आत्मा की श्रेष्ठतर या परात्पर शक्ति और ज्योति को अपने अन्दर नीचे खींच ले आयेगा और पार्थिव शरीर के अन्दर अपनी निश्चेतनता का त्याग कर, आत्मा का पूर्ण-सचेतन आधार बन जायेगा। उस समय इस शरीरस्थ पुरुष की इच्छा और शक्ति के द्वारा भौतिक शरीर के स्वास्थ्य और सामर्थ्य की परिपूर्णता और स्थायित्व को सुरक्षित रखा जा सकेगा; भौतिक शरीर की सभी स्वाभाविक क्षमताएँ, भौतिक चेतना की सभी शक्तियाँ अपनी अधिक-से-अधिक प्रसारता को प्राप्त होंगी, हमारी आज्ञा के अधीन होंगी और बिना भूल-भ्रान्ति के कार्य कर सकेंगी। यह शरीर एक यन्त्र के रूप में कार्य करने की पूर्ण क्षमता को, सब प्रकार के उपयोग में—यहाँ तक कि अभी जो कुछ सम्भव है उसकी सीमा के परे भी यदि किसी कार्य में इसका अधिवासी इसे लगाना चाहेगा तो उसके लिए भी उपयोग में—आने की पूर्ण योग्यता को प्राप्त करेगा। यही नहीं, यह चरम सौन्दर्य और आनन्द को प्रकट करने वाला एक आधार बन सकता है,—ऐसा आधार बन सकता है जो आत्मज्योति के सौन्दर्य को फैलाये, उसे इस प्रकार प्रसारित और विकीर्ण करे जिस प्रकार एक 'लैम्प' अपने अन्दर की

ज्योतिशिखा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित और प्रक्षिप्त करता है, जो अपने अन्दर आत्मा के आनन्द को, द्रष्टा मन के आनन्द को, जीवन और आध्यात्मिक प्रसाद के आनन्द को, आध्यात्मिक चेतना के अन्दर मुक्त और स्थायी हर्षातिरेक से प्रकम्पित जड़तत्त्व के आनन्द को धारण करे। यही अध्यात्मभावापन्न शरीर की सर्वांगीण पूर्णता होगी।

सम्भव है कि यह सब कुछ सहसा एक साथ ही न आये, यद्यपि एक ऐसे एकाएक ज्योतीकरण की सम्भावना भी है—अगर दिव्य शक्ति, ज्योति और आनन्द हमारी सत्ता के शिखर पर आकर अवस्थित हो जायें और वहाँ से हमारे मन, प्राण और शरीर में अपनी शक्ति को भर दें तथा समस्त आधार के कोषों को, उसकी जाग्रत् चेतना को प्रकाशित कर दें और नये साँचे में ढाल दें। परन्तु मार्ग खुल जायेगा और व्यक्ति के जीवन में जो कुछ सम्भावना है उस सबकी पूर्ण परिणति धीरे-धीरे साधित होगी। और शरीर भी समस्त सत्ता की उस चरम परिणति में अपना हिस्सा पायेगा।

परन्तु जैसे-जैसे परम सद्बस्तु को, चरम सत्ता, चेतना और आनन्द को—सत्-चित्-आनन्द को अधिकृत करने के लिए मुक्त पुरुष अग्रसर होगा और अनन्त आत्मा विकसनशील प्रकृति को उच्चतर ऊँचाइयों और विशालतर चौड़ाइयों की ओर ले जायेगी, वैसे-वैसे और भी विशाल क्षितिज हमारे सामने निरन्तर खुलते जायेंगे। परन्तु अभी उसके विषय में कुछ कहने का समय नहीं; जो कुछ लिखा गया है वह सम्भवतः उतना है जितना कि मानव-मन, जैसा कि वह अभी गठित हुआ है, कल्पना करने का साहस कर सकता है और हमारी आलोकित बुद्धि कुछ अंश में समझने में समर्थ हो सकती है। सत्य-चेतना का जड़तत्त्व में उतर आने और उस पर अपना अधिकार जमा लेने का जो यह सब फल है वह क्रमविकास के कठिन प्रयास का समर्थन करने के लिए पर्याप्त है। यह जो सभी चीजों को ऊपर उठाने वाला आत्मा का एक ऊर्ध्वमुखी प्रवेग है, उसके साथ-ही-साथ या ठीक उसके बाद ही अध्यात्मभावापन्न प्रकृति की विजय का भी एक निम्नमुखी प्रवेग होगा जो सबको अपने अन्दर सम्मिलित करेगा और सबको रूपान्तरित करेगा और उसके अन्दर जड़तत्त्व और भौतिक चेतना और भौतिक रूप का भी एक महामहिम परिवर्तन साधित होगा, जिसकी क्रियावली को हम केवल शरीर की सर्वांगीण ही नहीं, बल्कि चरम परिपूर्णता कह सकते हैं।

२३ मार्च १९४९

—श्रीअरविन्द

एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र

(श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र की एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र जिसने माताजी को सोलह वर्ष की उम्र में पत्र लिखना शुरू किया था।)

मधुर माँ,

पहले मेरी आदत थी कि सोने से पहले 'सावित्री' या आपकी कोई पुस्तक पढ़ लिया करती थी। लेकिन अब मेरी वह आदत छूट गयी है; अब मैं नियमित रूप से समाधि पर भी नहीं जाती। मैं इन चीज़ों का सच्चा मूल्य नहीं समझती। क्या हमें ये चीज़ें नियमित रूप से करनी चाहियें या केवल तभी जब इन्हें करने की इच्छा हो? हमें ये चीज़ें क्यों और कैसे करनी चाहियें?

व्यक्ति 'सावित्री' पढ़ता है अपनी बुद्धि को विकसित करने और गभीरतर चीज़ों को समझने के लिए।

व्यक्ति समाधि पर एकाग्र होता है भक्ति में प्रगति करने और अपने-आपको श्रीअरविन्द के साथ सम्पर्क में लाने के लिए ताकि उनकी सहायता पा सके।

अगर तुम्हारे लिए इन चीज़ों का कोई मूल्य है तो तुम्हें इन्हें नियमित रूप से करना चाहिये, क्योंकि अचेतना का प्रमाद तुम्हें यह करने से रोकता है।

तुम आध्यात्मिक और सचेतन जीवन के लिए जन्मी हो लेकिन, शायद उसे चरितार्थ करने के संकल्प के लिए अभी तुम बहुत छोटी हो।

आशीर्वाद।

२३ जुलाई १९६९

मधुर माँ,

हर बार जब मैं अच्छी तरह काम करने का निश्चय करती हूँ तो मैं देखती हूँ कि मेरा प्रयास दो दिन से अधिक नहीं टिकता। आपका क्या खयाल है कि मुझे क्या करना चाहिये ताकि मैंने जो करने का निश्चय किया है उसे अच्छी तरह कर सकूँ? मुझे लगता है कि मेरे अन्दर कोई ऐसी चीज़ है जो मेरी आज्ञा मानने से इन्कार करती है।

हर एक के साथ यही होता है जब तक कि वह अपनी सारी सत्ता को सचेतन रूप से अपने चैत्य केन्द्र के चारों ओर एक न कर ले।

यह एक होना अनिवार्य है यदि तुम अपनी सत्ता के और उसकी समस्त क्रियाओं की स्वामिनी बनना चाहती हो।

यह एक लम्बा और अति सावधानी से करने-लायक काम है जिसमें बहुत अध्यवसाय की ज़रूरत होती है, लेकिन परिणाम कष्ट उठाने-लायक है, क्योंकि वह केवल स्वामित्व ही नहीं लाता बल्कि रूपान्तर की सम्भावना और चेतना की दीप्ति भी लाता है।

तुम यह करना चाहती हो?

अगर हाँ, तो मैं तुम्हारी सहायता करूँगी।

आशीर्वाद।

२८ अगस्त १९६९

मधुर माँ,

हम हर क्षण यह कैसे याद रख सकते हैं कि हम जो कुछ भी करते हैं वह आपके लिए होता है? विशेष रूप से जब हम पूर्ण निवेदन करना चाहते हैं, हमें यह कभी न भूलते हुए आगे कैसे बढ़ना चाहिये कि यह सब भगवान् के लिए है?

इसे प्राप्त करने के लिए तुम्हारे अन्दर **आग्रही इच्छा-शक्ति** और **बहुत अधिक धैर्य** होना चाहिये। लेकिन एक बार तुम यह करने की प्रतिज्ञा कर लो तो तुम्हें सहारा देने और तुम्हारी सहायता करने के लिए भागवत सहायता रहेगी। इस सहायता का अनुभव अन्दर हृदय में होता है।

आशीर्वाद।

९ सितम्बर १९६९

मधुर माँ,

मैं जन्मदिन का सच्चा अर्थ जानना चाहूँगी, क्योंकि यहाँ उसका बहुत महत्त्व है।

आन्तरिक प्रकृति की दृष्टि से व्यक्ति हर वर्ष अपने जन्मदिन पर अधिक ग्रहणशील होता है, अतः, हर वर्ष किसी नयी प्रगति में उसकी सहायता करने के लिए यह बहुत अच्छा अवसर होता है।

आशीर्वाद।

२५ सितम्बर १९६९

मधुर माँ,

आपने मुझे लिखा था कि चैत्य सत्ता के साथ सम्पर्क में आना आसान नहीं है। आप उसे कठिन क्यों मानती हैं? मैं कैसे शुरू करूँ?

मैंने कहा था “सरल नहीं है” क्योंकि यह सहज रूप से नहीं होता—यह ऐच्छिक है। चैत्य सत्ता का प्रभाव हमेशा विचारों और क्रियाओं पर रहता है, लेकिन व्यक्ति विरले ही उसके बारे में सचेतन होता है, चैत्य सत्ता के बारे में सचेतन होने के लिए पहले तुम्हें ऐसा करने की चाह करनी चाहिये, अपने मन को जितना हो सके नीरव बनाना चाहिये और अपनी सत्ता के हृदय की गहराई में, विचारों और संवेदनों के परे प्रवेश करना चाहिये, तुम्हें नीरव एकाग्रता की और अपनी सत्ता की गहराइयों में उतरने की आदत डालनी चाहिये।

चैत्य सत्ता का शोध एक निश्चित और बहुत ठोस तथ्य है, जैसा कि जिन लोगों को अनुभव हुआ है वे सब जानते हैं।

आशीर्वाद।

६ अक्तूबर १९६९

मधुर माँ,

मैंने देखा है कि मैं अपने भौतिक शरीर को उसकी वास्तविक क्षमता से ज़रा अच्छा कर सकने के लिए बाधित नहीं कर सकती। मैं जानना चाहूँगी कि मैं उसे कैसे बाधित कर सकती हूँ। लेकिन, मधुर माँ, क्या अपने शरीर को बाधित करना अच्छा है?

नहीं।

शरीर प्रगति करने में सक्षम है और जो वह पहले नहीं कर सकता था उसे करना धीरे-धीरे सीख सकता है। लेकिन उसकी प्रगति की क्षमता प्राण की प्रगति की कामना और मन की प्रगति की इच्छा से बहुत धीमी है। और अगर प्राण और मन को कार्य के लिए ज़िम्मेदार बना दिया जाये तो वे शरीर को बहुत तंग करते हैं, उसके सन्तुलन को नष्ट करके स्वास्थ्य बिगाड़ देते हैं।

इसलिए तुम्हें धीरज रखना चाहिये और अपने शरीर की लय का अनुकरण करना चाहिये जो ज़्यादा विवेकशील है और उसे पता होता है कि वह क्या कर सकता है और क्या नहीं।

स्वभावतः, कुछ शरीर तामसिक होते हैं और प्रगति करने के लिए उन्हें कुछ प्रोत्साहन की ज़रूरत होती है।

लेकिन सभी चीज़ों में, सभी अवस्थाओं में तुम्हें सन्तुलन रखना चाहिये।

आशीर्वाद।

१३ अक्तूबर १९६९

मधुर माँ,

हम पुनर्जन्म पर क्यों विश्वास करते हैं? वर्तमान स्थिति से पहले हम क्या थे?

जिन्हें पिछले जन्मों की याद थी उन्होंने पुनर्जन्म की वास्तविकता की घोषणा की है।

ऐसी सत्ताएँ हो चुकी हैं और अब भी हैं, जिनकी आन्तरिक चेतना इतने पर्याप्त रूप से विकसित है कि वे निश्चित रूप से जानती हैं कि उनकी यह चेतना उनके वर्तमान शरीर से भिन्न शरीरों में अभिव्यक्त हो चुकी है और यह इस शरीर के लोप के बाद भी बनी रहेगी।

यह कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिस पर बहस की जाये—जिन्हें यह अनुभव हुआ है उनके लिए यह निर्विवाद अनुभूति है।

आशीर्वाद।

५ नवम्बर १९६९

मधुर माँ,

जब हम प्रकृति के बीच में हों तो हमें क्या सोचना चाहिये? क्या प्रकृति के साथ सम्पर्क में रहना किसी तरह हमारी सहायता करता है?

सोचने से प्रकृति के साथ तुम्हारा सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता, क्योंकि प्रकृति नहीं सोचती।

लेकिन अगर तुम गहराई के साथ प्रकृति की सुन्दरता का अनुभव करो और उसके साथ नाता जोड़ो तो यह चेतना को विस्तृत करने में सहायता दे सकता है।

आशीर्वाद।

९ नवम्बर १९६९

सामान्यतः प्रकृति से प्रेम शुद्ध और स्वस्थ सत्ता का चिह्न है जो आधुनिक सभ्यता के कारण भ्रष्ट नहीं हुई है। शान्त मन की नीरवता में तुम प्रकृति के साथ सबसे अच्छी तरह नाता जोड़ सकते हो।

आशीर्वाद।

१३ नवम्बर १९६९

मधुर माँ,

हम ईर्ष्या और प्रमाद से कैसे पिण्ड छुड़ा सकते या उन्हें ठीक कर सकते हैं?

स्वार्थ तुम्हें ईर्ष्यालु बनाता है और दुर्बलता तुम्हें आलसी बनाती है।

दोनों ही स्थितियों में एकमात्र सच्चा प्रभावशाली उपचार है, भगवान् के साथ सचेतन ऐक्य। वस्तुतः, जैसे ही तुम भगवान् के बारे में सचेतन और उनके साथ एक हो जाते हो वैसे ही सच्चे प्रेम के साथ प्रेम करना सीखते हो: ऐसा प्रेम जो केवल **प्रेम के आनन्द के लिए प्रेम करता है**, जिसे बदले में प्रेम किये जाने की ज़रूरत नहीं है; साथ ही तुम अक्षय भण्डार

के उत्स से 'शक्ति' प्राप्त करना सीखते हो और अनुभव से जानते हो कि भगवान् की सेवा में इस 'शक्ति' का प्रयोग करने से तुमने जो कुछ खर्च किया है वह सब और उससे कहीं अधिक प्राप्त करते हो।

मन द्वारा सुझाये गये सभी इलाज, सर्वाधिक प्रदीप्त मन द्वारा भी, केवल शामक होते हैं, उपचार नहीं।

आशीर्वाद।

१६ नवम्बर १९६९

मधुर माँ,

कभी-कभी मैं नींद में बोलती हूँ। यह इस बात का चिह्न है कि मन नियन्त्रण-रहित है, है न? तो मुझे सोते समय शान्त रहने के लिए क्या करना चाहिये?

साधारणतः रात को जब शरीर सोता है तो मन उसमें से बाहर चला जाता है क्योंकि उसके लिए अधिक समय तक चुपचाप रहना मुश्किल है; इसीलिए अधिकतर लोग नहीं बोलते।

लेकिन ऐसा लगता है कि तुम्हारा मन शरीर में ही रहता है, इसलिए तुम्हें उससे कहना चाहिये कि वह पूरी तरह चुपचाप और नीरव रहे ताकि तुम्हारा शरीर भली-भाँति आराम कर सके। उसके लिए सोने से पहले ज़रा-सी एकाग्रता निश्चित रूप से प्रभावकारी होगी।

आशीर्वाद।

२९ नवम्बर १९६९

मधुर माँ,

जब शरीर सोया हुआ हो तो क्या मन के लिए शरीर से बाहर जाना अच्छा होता है? मन जाता कहाँ है?

हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग सम्भावनाएँ हैं। जितने व्यक्ति हैं उतने ही उदाहरण होते हैं। लेकिन हर एक सीख सकता है कि उसके आराम के लिए सबसे अच्छी अवस्थाएँ कौन-सी हैं। तुम जैसे अपने दिनों के बारे में सचेतन रहती हो उसी तरह अपनी रातों और अपनी नींद के बारे में भी सचेतन रह सकती हो। यह आन्तरिक विकास और चेतना के अनुशासन की बात है।

आशीर्वाद।

१ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

“सचेतन होने” से आपका क्या मतलब है? क्या अपने अन्दर भागवत उपस्थिति के बारे में सचेतन होना ही एकमात्र चीज़ है या अपनी गतिविधियों, अपनी वाणी

आदि के बारे में सचेतन होना भी महत्त्व रखता है?

तुम विश्वास रखो कि भागवत उपस्थिति के बारे में सचेतन होना अपने-आपमें तुम्हारी सत्ता की सभी बातों में बहुत बड़ा परिवर्तन ला देता है और समस्त मानसिक, प्राणिक और भौतिक क्रियाओं पर एक असामान्य नियन्त्रण ला देता है।

और यह नियन्त्रण, तुम बाह्य साधनों से जो कुछ पा सकते हो उससे अनन्तगुना शक्तिशाली और प्रकाशमान होता है।

आशीर्वाद।

९ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

क्या हमारा प्राण केवल कामनाओं, स्वार्थपूर्ण भावनाओं आदि से ही बना है या उसमें कुछ अच्छी चीज़ें भी हैं?

ऊर्जा, बल, उत्साह, कलात्मक रुचि, साहस, शक्तिमत्ता आदि भी उसमें हैं—अगर हम उनका ठीक तरह से उपयोग करना जानें।

परिवर्तित और भागवत इच्छा को समर्पित प्राण, सभी विघ्न-बाधाओं पर विजय पाने वाला साहसी और शक्तिशाली यन्त्र बन जाता है। लेकिन पहले उसे अनुशासन में रखना होगा और इसके लिए वह तभी तैयार होता है जब भगवान् उसके स्वामी हों।

आशीर्वाद।

११ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

जब श्रीअरविन्द चेतना के परिवर्तन की बात करते हैं तो उनका अर्थ क्या होता है?

सामान्य अज्ञानभरी मानव चेतना से निकल कर भागवत उपस्थिति के ज्ञान पर आधारित यौगिक चेतना में जाना।

आशीर्वाद।

१३ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

जल्दी सोना और जल्दी उठना क्यों ज़्यादा अच्छा है?

सूर्यास्त के समय एक तरह की शान्ति धरती पर उतरती है और यह शान्ति नींद में सहायक होती है।

सूर्योदय के समय एक सशक्त ऊर्जा धरती पर उतरती है और यह ऊर्जा काम के लिए सहायक होती है।

अगर तुम देर से सोओ और देर से जागो तो तुम प्रकृति की शक्तियों का विरोध करते हो और यह बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण बात नहीं है।

आशीर्वाद।

२१ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

क्या ज्योतिष तथा अन्य विद्याएँ हमेशा ठीक-ठीक भविष्यवाणियाँ करती हैं या मनुष्य अभी तक यह करने में असमर्थ है?

मनुष्य जो कुछ करता है उसके पीछे उसकी अक्षमता तो रहती ही है। केवल वही जो भगवान् के बारे में सचेतन हो चुका है और उनका कर्तव्यनिष्ठ यन्त्र बन चुका है, वही भूल-भ्रान्ति से बच सकता है, बशर्ते कि वह केवल भागवत आदेश के अनुसार ही काम करे और उसमें कोई व्यक्तिगत चीज़ न जोड़ दे।

यह कहना पड़ेगा कि यह आसान नहीं है। इसे ठीक तरह से वही कर सकता है जिसमें अहंकार बाक्री न रहा हो।

आशीर्वाद।

२५ दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

ज्ञान और बुद्धि क्या हैं? क्या हमारे जीवन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है?

ज्ञान और बुद्धि यथार्थ रूप में मनुष्य में उच्चतर मन की वे क्षमताएँ हैं जो उसे पशु से अलग करती हैं।

ज्ञान और बुद्धि के बिना आदमी आदमी नहीं, आदमी के शरीर में पशु होता है।

आशीर्वाद।

३० दिसम्बर १९६९

मधुर माँ,

क्या नयी जाति में हमारे शरीर का रूप बदल जायेगा?

अतिमानसिक सत्ता और मनुष्य के बीच अवश्य कोई ऐसा अन्तर होगा जिसकी तुलना मनुष्य और सबसे अधिक विकसित वानर के शरीर से की जा सकती है। लेकिन यह अन्तर क्या

होगा यह हम तब तक नहीं जान सकते जब तक यह नयी जाति पृथ्वी पर प्रकट न हो जाये।
आशीर्वाद।

१३ जनवरी १९७०

मधुर माँ,

खेल-कूद और शारीरिक प्रशिक्षण में क्या फ़र्क है?

खेल-कूद में सब तरह के खेल, प्रतियोगिताओं, साम्मुख्यों आदि की गिनती होती है जो प्रतियोगिता पर आधारित होते हैं, जिनमें स्थान और पुरस्कार आदि मिलते हैं।

शारीरिक प्रशिक्षण का अर्थ है मुख्य रूप से शरीर के विकास और संरक्षण के लिए सब प्रकार के व्यायाम।

स्वभावतः, यहाँ हमने दोनों को मिला दिया है परन्तु यह मुख्य रूप से इसलिए है क्योंकि मनुष्यों को, विशेष रूप से बाल्यावस्था में, प्रयास करने के लिए कुछ उत्तेजना की ज़रूरत होती है।

आशीर्वाद।

१४ जनवरी १९७०

मधुर माँ,

यहाँ अपने कप्तानों और अध्यापकों के लिए हमारा मनोभाव कैसा होना चाहिये?

आज्ञाकारी, इच्छुक और स्नेहमय मनोभाव। वे तुम्हारे बड़े भाई-बहन हैं जो तुम्हारी सहायता करने के लिए बहुत कष्ट उठाते हैं।

आशीर्वाद।

१ फ़रवरी १९७०

मधुर माँ,

स्रष्टा ने इस जगत् और मानवजाति की रचना क्यों की है? क्या वह हमसे कुछ आशा रखता है?

जगत् 'स्वयं वही' है। 'उसकी' इच्छा है कि सब कुछ—हम सब, सारा जगत् और पूरा विश्व—फिर से वही होने के बारे में सचेतन हो जाये।

आशीर्वाद।

५ फ़रवरी १९७०

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४४५-४५५

कर्मों का आनन्द

तेरे कर्मों में सदा ये तीन तत्त्व विद्यमान रहते हैं—स्वामी, कार्य-कर्ता और यन्त्र। इन्हें अपने अन्दर ठीक प्रकार से लक्षित कर लेना और ठीक प्रकार से अपने में धारण करना ही कर्मों का तथा कर्मों के आनन्द का रहस्य है।

पहले तू परमेश्वर का यन्त्र होना और उसे स्वामी स्वीकार करना सीख। यन्त्र वह बाह्य वस्तु है जिसे तू 'अपना-आप' समझता है। यह है एक मनोमय ढाँचा, एक प्राणमय सञ्चालक शक्ति, एक स्थूल आकार का यन्त्र, एक वस्तु जो नानाविध कमानियों, चक्रदन्तों, शिकंजों तथा अन्य कल-पुञ्जों से भरपूर है। क्या इस बाह्य स्वरूप को तू कार्य-कर्ता या स्वामी समझता है? यह कदापि कार्य-कर्ता या स्वामी नहीं हो सकता। तू तो पहले अपने-आपको यन्त्र स्वीकार कर—नम्रता के साथ, फिर भी अभिमान के साथ, भक्तिरत भाव से, शरणागत भाव से और आनन्दपूर्ण होकर अपने को उसका एक यन्त्र स्वीकार कर।

इससे बढ़ कर अभिमान और गौरव की बात और दूसरी क्या हो सकती है कि कोई अपने स्वामी का एक परिपूर्ण यन्त्र हो।

यन्त्र बन कर तू सबसे पहले सर्वथा, बिलकुल पूरी तरह से आज्ञापालन करना सीख। उसे कहाँ वार करना है यह तलवार तो कभी निश्चय नहीं करती, तीर यह नहीं कहता कि उसे किस लक्ष्य पर छोड़ा जाये, यन्त्र की कमानियाँ यह आग्रह नहीं करती कि उनके कार्य द्वारा अमुक वस्तु निर्माण की जाये। ये बातें तो प्रकृति-देवी (जो कार्य-कर्ता है) के अभिप्राय और उसकी कार्य-प्रणाली के द्वारा निश्चित होती हैं। सचेतन यन्त्र-रूप मनुष्य अपनी प्रकृति के शुद्ध और सच्चे स्वधर्म को जितना अधिक जान लेगा और उसका ही पालन करना सीख लेगा उतनी ही जल्दी उससे निर्मित होने वाला कार्य पूर्ण और निर्दोष होकर तैयार होगा। प्राणमय प्रेरक बल यदि अपने ही चुनाव से काम करेगा, भौतिक और मानसिक उपकरण यदि विद्रोह करेंगे तो इससे केवल काम बिगड़ेगा ही।

तू अपने-आपको परमेश्वर के निःश्वास में बहने दे और आँधी में उड़ने वाले सूखे पत्ते की तरह हो जा। अपने-आपको उसके हाथों में रख दे और योद्धा के हाथ की खनकती हुई तलवार और धनुष से निकल, निशाने की तरफ उड़ते हुए तीर की तरह हो जा। तेरा मन यन्त्र की कमानी की तरह और तेरी प्राणशक्ति इंजन के 'पिस्टन' की तरह हरकत करें। तेरा कार्य ऐसा चले जैसे कूटता-पीसता हुआ और जो अभीष्ट है वह आकार बनाता हुआ फ़ौलादी यन्त्र ऊपर से पड़ता है। और तेरी वाणी? मानों निहाई के ऊपर बजते हथौड़े की धड़ाधड़, मानों कारखाने में काम करते इंजन का आर्तक्रन्दन, मानों परमेश्वर की शक्ति को दिग्दिगन्तों में घोषित करते हुए तूर्यनाद का निनाद। जिस किसी प्रकार का भी कार्य कर, पर एक यन्त्र के तौर पर कर और वह कार्य कर जो तेरे प्रकृति-धर्म के अनुसार स्वाभाविक हो और तेरे लिए नियत हो।

समरांगण की लीला में तलवार आनन्द पाती है, तीर अपनी उड़ान और सनसनाहट में मज़ा लेता है, पृथ्वी इस आकाश में अपना अँधाधुन्ध चक्कर लगाते जाने में आनन्द-विभोर है, सूर्यनारायण अपने जगमगाते वैभव में तथा अपनी सनातन गति में सदा सम्राट्-सदृश आनन्द का भोग कर रहा है। तो फिर, ओ परमेश्वर के आत्म-सचेतन यन्त्र! तू भी अपने नियत कर्म करते जाने में मज़ा लूट।

तलवार अपने बनाये जाने की माँग नहीं करती, बन जाने पर वह किसी भी तरह उपयुक्त किये जाने में उपयोगकर्ता के सामने रुकावट नहीं पैदा करती, और जब वह टूट जाती है तो कोई विलाप नहीं करती। बनाये जाने में एक प्रकार का आनन्द है और उपयुक्त किये जाने में भी एक अन्य प्रकार का आनन्द है तथा म्यान में बन्द कर रख दिये जाने में और अन्त में तोड़ कर फेंक दिये जाने में भी एक आनन्द है। उस सर्वत्र सम आनन्द को तू ढूँढ़ निकाल।

क्योंकि तूने यन्त्र को कार्यकर्ता और स्वामी समझने की भूल की है और क्योंकि तू अपनी इच्छा के अज्ञान के कारण अपनी निजी अवस्था को, अपने निजी लाभ को और अपनी निजी उपयोगिता को पसन्द करता है, इसीलिए तुझे दुःख और यातनाएँ झेलनी होती हैं, तुझे बार-बार लाल दहकती हुई भट्टी के नरक में तपना पड़ता है और बार-बार ही नया जन्म लेना, नया आकार और स्वभाव धारण करना पड़ता है और यह तब तक चलता रहेगा जब तक कि तू अपना मनुष्योचित पाठ पूरा न कर लेगा।

और ये सब अपूर्णताएँ हैं, क्योंकि ये तेरी अधूरी अपक्व प्रकृति में विद्यमान हैं। जब तू यन्त्र हो जायेगा तो देखेगा कि प्रकृतिदेवी कार्यकर्ता है और तू जानता है कि वह क्या कार्य कर रही है। वह अपने इस अपक्व कच्चे मन, प्राण और स्थूल द्रव्य (अन्न) में से एक पूर्णतया सचेतन सत्ता को विकसित कर रही है।

*

इसके बाद फिर दूसरा क़दम उठा, अपने-आपको कार्य-कर्ता रूप से जान। तेरी प्रकृति कार्य करने वाली है यह समझ और तेरी निजी प्रकृति तथा विश्व-प्रकृति ये तू ही है, तेरा ही स्वरूप है यह समझ।

तेरा यह प्रकृतिस्थ स्वरूप न तो विशेषतया तेरा अपना है और न तेरी निजी प्रकृति से सीमित है। तेरी प्रकृति ने ही यह सूर्य और सब सौर-मण्डल, यह पृथ्वी और उसके सब प्राणी, तू, तेरा और जो कुछ भी तू है और जो कुछ तू देखता है इस सबको रचा है। यह तेरा मित्र है और यही तेरा शत्रु है, तेरी माता है और तेरा भक्षण करने वाली है, तुझसे प्रेम करने वाली और तुझे पीड़ा पहुँचाने वाली है, तेरी आत्मा की बहन है और बिलकुल अपरिचित पर-जन

है, तेरा आनन्द है और यही तेरा शोक है, तेरा पाप है और यही तेरा पुण्य है, यह तेरा बल है और यही तेरी निर्बलता है, यह तेरा ज्ञान है और यही तेरा अज्ञान भी है। और फिर वह इनमें से कुछ भी नहीं है किन्तु कुछ ऐसी चीज़ है जिसका वर्णन करने के लिए उपर्युक्त बातें प्रयत्न-मात्र या अधूरी छाया-मात्र हैं। क्योंकि वह इन सबसे परे अपने दिव्य स्वरूप में मूलभूत आत्मज्ञान-रूप, अनन्त शक्ति-रूप और असंख्य गुण-रूप है।

परन्तु तुझमें प्रकृति की एक विशेष क्रिया, तेरी अपनी प्रकृति, तेरी एक वैयक्तिक शक्ति काम कर रही है। तू उसका अनुसरण कर और जैसे एक बढ़ती हुई नदी समुद्र को जा पहुँचती है वैसे ही तू इसका अनुसरण करता हुआ इसके असीम आदि स्रोत और मूल स्थान को पहुँच जा।

इसलिए तू अपने शरीर को स्थूल द्रव्य (अन्न-तत्त्व) की एक गाँठ समझ, अपने मन को विश्वव्यापी मन में उठा एक बगूला तथा अपने जीवन को शाश्वत प्राण-सागर में पड़ी एक भँवर समझ। अपनी शक्ति को तू प्रत्येक अन्य प्राणी की शक्ति समझ, अपने ज्ञान को उस महाप्रकाश से आयी हुई एक चमक समझ जो कि किसी मनुष्य का अपना नहीं है, अपने कर्मों को अपने लिए किये गये कार्य समझ। इस तरह तू अपने को पृथक् व्यक्ति समझने की गलती से छुटकारा पा जा।

जब यह हो जायेगा तो तू अपनी व्यक्तिगत सत्ता के सत्य में, अपने वास्तविक व्यक्ति-स्वरूप में अपना मुक्त आनन्द प्राप्त करेगा; तब तुझे अपनी शक्ति में, अपने यश में, अपने सौन्दर्य में और अपने ज्ञान में आनन्द मिलेगा और इन सबके निषेध में भी तुझे आनन्द मिलेगा। क्योंकि यह सब कुछ उस पुरुष का नाटकीय वेष-धारण ही तो है, उस आत्म-शिल्पी की आत्ममूर्ति ही तो है।

तुझे अपने-आपको परिमित क्यों रखना चाहिये? तू घायल करने वाली तलवार में भी अपने-आपको अनुभव कर, और आलिंगन करने वाले हाथ में भी, सूर्य की जाज्वल्यमान दीप्ति में और पृथ्वी के सतत नृत्य में, गरुड़ की लम्बी उड़ान में और कोयल के कोमल कूजन में, और उस सबमें जो कुछ हो चुका है, उस सबमें जो कुछ विद्यमान है और उस सबमें भी जो आगे होने वाला है—तू अपने-आपको अनुभव कर। क्योंकि तू अनन्त है और तेरे लिए ये सभी आनन्द सम्भव हैं।

कार्य करने वाली प्रकृति-देवी जहाँ अपने कर्मों का आनन्द पाती है वहाँ वह अपने प्रियतम का भी आनन्द पाती है। जिसके लिए वह काम करती है, अपने-आपको उसकी चेतना और उसकी शक्ति जानती है, उसका ज्ञान और उसका ज्ञान-निरोध, उसकी एकता और उसका आत्म-विभेद, उसकी अनन्तता और उसकी सत्ता का सान्त रूप जानती है। तू भी अपने-आपको यह सब कुछ जान और तू भी अपने प्रियतम का आनन्द पा।

ऐसे लोग हैं जो अपने को एक कारखाना या एक एक यन्त्र या एक तैयार की हुई वस्तु मानते हैं। पर वे कार्य-कर्ता को ही स्वामी समझ लेते हैं, यह भी बड़ी भारी भूल है। जो लोग इस भूल में पड़ते हैं उनके लिए प्रकृति की ऊँची, पवित्र और पूर्ण कार्य-प्रणालियों तक पहुँचना

असम्भव-सा होता है।

यन्त्र पुरुष-जैसी आकृति में सीमित वस्तु है, कार्य-कर्ता एक पुरुष-जैसी प्रकृति से युक्त व्यापक वस्तु है। पर इन दोनों में से कोई भी स्वामी नहीं है, क्योंकि इन दोनों में से कोई भी वास्तविक पुरुष नहीं है।

*

अन्त में तू स्वामी को स्वयं अपना स्वरूप जान। किन्तु अपनी उस दिव्य आत्मा को तू कोई आकार प्रदान मत कर, इसे किन्हीं गुणों द्वारा लक्षित करने का यत्न मत कर। अपनी सत्ता में उसके साथ एक हो जा, अपनी चेतना में उसके साथ सम्पर्क-युक्त हो, अपनी शक्ति में उसका आज्ञापालक रह, अपने आनन्द में उसका विषयी-भूत बन और उससे चिपका रह, अपने प्राण, शरीर और मन में उसे सार्थक कर। तब तेरे अन्दर उद्घाटित हुए चक्षु के सामने वह वास्तविक और एकमात्र पुरुष प्रकट हो जायेगा जो तेरा अपना-आप है तथा इसका निषेध-रूप है, जो और सब है तथा और सबसे अतिरिक्त है, तेरे कर्मों का प्रेरक और भोक्ता है, यन्त्र का और कार्य-कर्ता का स्वामी है। इस विश्व-नृत्य में धूमधाम के साथ रंगरलियाँ करने वाला विलासी तथा अपने नाचते हुए पैरों से सारे जगत् को रौंद डालने वाला काल है, पर साथ ही तेरी आत्मा की शान्त और आन्तरिक कोठरी में चुप, मौन होकर अकेला तेरे साथ बैठने वाला भी वही है।

स्वामी का आनन्द प्राप्त हो गया हो फिर तेरे लिए कोई और वस्तु विजय करने की नहीं रही। क्योंकि वह तुझे अपने-आपको ही दे देगा तथा सब वस्तुएँ देगा और सब प्राणी जो कुछ भी प्राप्त करते हैं, रखते हैं, करते हैं, भोगते हैं उस सबके तेरे निजी उचित हिस्से को देगा; और वह तुझे वह वस्तु भी देगा जिसके हिस्से नहीं किये जा सकते।

तू अपनी सत्ता में अपने-आपको तथा अन्य सबको समा लेगा और तू वह हो जायेगा जो न तो तू है और न अन्य सब। कर्मों की यही है पूर्णता-प्राप्ति और पराकाष्ठा।

—श्रीअरविन्द

१३ अगस्त १९५८ के वार्तालाप का अंश

मधुर माँ, यहाँ आश्रम में रहते हुए हमें जितना लाभ उठा सकना चाहिये हम उतना लाभ क्यों नहीं उठाते?

आह! यह तो बहुत सीधी-सी बात है; इसलिए क्योंकि यह बहुत आसान है!... जब गुरु को ढूँढ़ने के लिए तुम्हें सारी दुनिया का चक्कर लगाना पड़े, जब तुम्हें शिक्षा के पहले शब्दों को पाने के लिए सब कुछ त्यागना पड़े, तब, वह शिक्षा, वह आध्यात्मिक सहायता उस चीज़ की तरह बहुत अनमोल बन जाती है जो बड़ी कठिनाई से मिलती है और तुम उसके अधिकारी बनने के लिए बहुत प्रयास करते हो।

तुममें से अधिकतर यहाँ तब आये जब तुम बहुत छोटे थे, ऐसी उम्र थी जब आध्यात्मिक जीवन का या आध्यात्मिक शिक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता—वह बिलकुल असामयिक होता। तुम यहाँ के वातावरण में रहे पर उसे जाने बिना; तुम मुझे देखने के, मेरी बातें सुनने के अभ्यस्त हो; मैं तुम्हारे साथ ऐसे बात करती हूँ जैसे सभी बच्चों के साथ की जाती है, मैं तुम्हारे साथ खेली तक हूँ, जैसे कोई बच्चों के साथ खेलता है; तुम्हें बस यहाँ आना और बैठना होता है और तुम मुझे बोलते हुए सुनते हो, तुम्हें सिर्फ़ प्रश्न करना होता है और मैं उत्तर दे देती हूँ। मैंने कभी किसी को कोई बात बताने से इन्कार नहीं किया। यह इतना सरल है। बस इतना काफ़ी है... जीना—सोना, खाना, व्यायाम करना और विद्यालय में अध्ययन करना। तुम यहाँ वैसे ही रहते हो जैसे कहीं बाहर रहते। और इसीलिए, तुम इसके आदी हो गये हो।

यदि मैंने कड़े नियम बनाये होते, यदि मैंने कहा होता : “मैं तुम्हें तब तक कुछ नहीं बताऊँगी जब तक तुम उसे जानने के लिए सचमुच प्रयास नहीं करते,” तो शायद तुम कुछ प्रयास करते, पर नहीं, यह मेरे विचारों से मेल नहीं खाता। कठोर शिक्षा की अपेक्षा मैं वातावरण की शक्ति और उदाहरण पर ज़्यादा विश्वास करती हूँ। मैं विधिवत्, अनुशासित प्रयत्न की अपेक्षा मूक सञ्चार द्वारा सत्ता में कुछ जगा देने पर ज़्यादा भरोसा करती हूँ।

शायद, अन्ततः, कोई चीज़ तैयार हो रही है और एक दिन वह सतह पर फूट निकलेगी। मैं इसी की आशा करती हूँ।

एक दिन तुम अपने-आप कहोगे : “अरे! मैं इतने समय से यहाँ हूँ, मुझे कितना कुछ सीख लेना चाहिये था, उपलब्ध कर लेना चाहिये था, और मैंने कभी इसके बारे में सोचा तक नहीं! बस, ऐसे ही कभी-कभार!” और तब, उस दिन... हाँ, उस दिन, ज़रा कल्पना करो, तुम सहसा एक ऐसी चीज़ के प्रति जाग्रत् हो उठोगे जिसकी ओर कभी तुम्हारा ध्यान ही नहीं गया; लेकिन जो तुम्हारे अन्दर गहराई में है, जिसमें सत्य के लिए **प्यास** है, रूपान्तर के लिए प्यास है और जो इसे पाने के लिए अपेक्षित प्रयत्न करने को तैयार है। उस दिन तुम बहुत

तेज़ चलोगे, लम्बे-लम्बे डगों से आगे बढ़ोगे...। शायद जैसा कि मैंने कहा था, आज पाँच साल बाद, वह दिन आ पहुँचा है? मैंने कहा था : “मैं तुम्हें पाँच साल देती हूँ...।” अब वे पाँच साल बीत गये हैं, अतः, शायद वह दिन आ गया है! शायद, तुम अचानक एक **अदमनीय** आवश्यकता अनुभव करो कि अब अचेतनता और अज्ञान में नहीं जीना है, उस अवस्था में नहीं रहना है जिसमें कारण जाने बिना तुम काम करते हो, कारण समझे बिना अनुभव करते हो, विरोधी इच्छाएँ रखते हो, किसी चीज़ के बारे में कुछ नहीं समझते, केवल आदत, दिनचर्या और प्रतिक्रियावश जीते हो—बस जीवन को सहज रूप में लेते हो। और एक दिन आता है जब तुम उससे सन्तुष्ट नहीं रहते।

तुम देखोगे कि यह हर एक के लिए अलग-अलग है। ज़्यादातर यह जानने, समझने की आवश्यकता होती है; कुछ लोगों के लिए यह जो कुछ करना चाहिये और जैसे करना चाहिये उसे वैसा करने की आवश्यकता होती है; कुछ दूसरों के लिए यह एक धुँधली-सी अनुभूति होती है कि इस इतने अचेतन, व्यर्थ और निरर्थक जीवन के पीछे कुछ ऐसी चीज़ है जो जीने के **लायक** है, जिसे पाना है—एक सद्बस्तु है, इन मिथ्यात्वों और माया-जालों के परे एक सत्य है।

सहसा तुम महसूस करते हो कि जो कुछ तुम कर रहे हो, जो कुछ देख रहे हो उसका कोई अर्थ नहीं, उसके अस्तित्व का कोई हेतु नहीं, लेकिन कहीं **कुछ ऐसा** है जिसका अर्थ है कि मूलतः हम यहाँ इस धरती पर किसी काम के लिए हैं, इस सबका, इन सब गतिविधियों का, सब उद्देश्यों का, शक्ति और ऊर्जा के इस सारे अपव्यय का ज़रूर कोई प्रयोजन होना चाहिये, उद्देश्य होना चाहिये, और यह बेचैनी जो हम अपने अन्दर अनुभव कर रहे हैं, यह असन्तोष, यह आवश्यकता, किसी चीज़ के लिए यह **प्यास** ज़रूर हमें कहीं ले जायेगी।

और एक दिन तुम अपने से पूछते हो : “पर हमारा जन्म क्यों हुआ?... हम मर क्यों जाते हैं?... हम दुःख क्यों भोगते हैं?... हम काम क्यों करते हैं?...”

अब तुम एक छोटी-सी मशीन की तरह नहीं रह जाते, मुश्किल से अर्ध-चेतन। तुम सचमुच अनुभव करना, सचमुच काम करना, सचमुच जानना चाहते हो। तब, साधारण जीवन में व्यक्ति पुस्तकें खोजता है, ऐसे लोगों को ढूँढ़ता है जो उससे थोड़ा ज़्यादा जानते हों, किसी की खोज शुरू करता है जो इन प्रश्नों का समाधान कर सके, ‘अज्ञान’ का परदा उठा सके। यहाँ, यह सब बहुत आसान है। तुम्हें केवल... वही करना होता है जो प्रतिदिन करते हो, लेकिन करना होता है किसी उद्देश्य से।

तुम समाधि पर जाते हो, श्रीअरविन्द का चित्र देखते हो, मुझसे फूल लेने आते हो, पढ़ने बैठते हो; तुम वह सब करते हो जो प्रायः किया करते हो लेकिन... अपने अन्दर एक प्रश्न लिये : क्यों?

और तब, यदि तुम प्रश्न करो तो तुम्हें उत्तर मिल जाता है।

क्यों?

क्योंकि अब हम वैसा जीवन नहीं चाहते जैसा वह है, क्योंकि हम अब मिथ्या और अज्ञान

को नहीं चाहते, क्योंकि हम पीड़ा और अचेतनता को और नहीं चाहते, क्योंकि हम अव्यवस्था एवं दुर्भावना को और नहीं चाहते, क्योंकि श्रीअरविन्द हमें यह बतलाने के लिए आये हैं : 'सत्य' को पाने के लिए धरती को छोड़ने की ज़रूरत नहीं, अपनी 'अन्तरात्मा' को पाने के लिए जीवन का त्याग आवश्यक नहीं, भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए संसार का त्याग या सीमित मत रखना ज़रूरी नहीं है। भगवान् सब जगह हैं, हर वस्तु में हैं और यदि वे छिपे हुए हैं... तो इसलिए कि हम उन्हें ढूँढ़ने का कष्ट नहीं उठाते।

मात्र एक सच्ची अभीप्सा द्वारा हम अपने अन्दर का मुहरबन्द द्वार खोल सकते हैं और पा सकते हैं... वह 'कोई' चीज़ जो जीवन के सारे अर्थ को बदल देगी, हमारे सारे प्रश्नों का उत्तर दे देगी, सारी समस्याओं को हल कर देगी और हमें उस पूर्णता और 'सद्वस्तु' तक ले जायेगी जिसके लिए हम अनजाने अभीप्सा करते हैं, **केवल** वही हमें सन्तुष्ट कर सकती है और स्थायी उत्फुल्लता, सन्तुलन, बल और जीवन दे सकती है।

यह सब तो तुम बहुत बार सुन चुके हो।

तुम सुन चुके हो—ओह! यहाँ कुछ ऐसे भी हैं जो इसके इतने आदी हो चुके हैं कि यह उन्हें वैसा ही लगता है जैसे एक गिलास पानी पीना या धूप के लिए अपनी खिड़की खोलना।

पर चूँकि मैंने तुम्हें वचन दिया था कि पाँच साल में तुम इन चीज़ों को **जी** सकोगे, इनका ठोस, सच्चा, विश्वास दिलाने वाला अनुभव पाओगे तो, इसका मतलब है कि तुम्हें तैयार हो जाना चाहिये और यह कि हम शुरू करने वाले हैं।

हमने थोड़ा-सा प्रयत्न किया है, लेकिन अब गम्भीरता से करने जा रहे हैं!

आरम्भिक बिन्दु : इच्छा करना, सचमुच चाहना, इसकी ज़रूरत महसूस करना। अगला चरण : **केवल** उसी के बारे में सोचना। एक दिन आयेगा, बहुत जल्दी आयेगा जब तुम किसी और चीज़ के बारे में सोच ही न सकोगे।

यही एक चीज़ है जिसका कुछ मूल्य है। और इसके बाद...।

तुम अपनी अभीप्सा को शब्दबद्ध करते हो, अपने हृदय से सच्ची प्रार्थना का निर्झर फूटने देते हो, प्रार्थना जो तुम्हारी आवश्यकता की सच्चाई को व्यक्त करती है। और तब... हाँ, तब, तुम देखोगे कि क्या होता है।

कुछ होगा। निश्चय ही कुछ होगा। हर एक के लिए इसका रूप भिन्न होगा।

बस। मुझे खुशी हुई कि तुमने मुझे यह दिया।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४०४-०८

कठिनाइयों में श्रीमाँ की सहायता

उचित मनोभाव है घबराना नहीं, शान्ति-स्थिर बने रहना और विश्वास बनाये रखना; पर साथ में यह भी आवश्यक है कि श्रीमाँ की सहायता ग्रहण की जाये और किसी भी कारण से उनकी शुभ-चिन्ता से पीछे न हटा जाये। हमें कभी असमर्थता, प्रत्युत्तर देने की अयोग्यता के विचारों में नहीं लगे रहना चाहिये, दोषों और असफलताओं पर अत्यधिक ध्यान नहीं देना चाहिये और इन सबके कारण मन को दुःखी और लज्जित नहीं होने देना चाहिये; क्योंकि ये विचार और बोध अन्त में कमज़ोर बनाने वाली चीज़ें बन जाते हैं। अगर कठिनाइयाँ हैं, ठोक़ें लगती हैं या असफलताएँ आती हैं तो उन्हें शान्त-स्थिर रह कर देखना चाहिये और उन्हें दूर करने के लिए शान्ति के साथ, निरन्तर भागवत सहायता को पुकारना चाहिये, लेकिन कभी विचलित या दुःखी या निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। योग कोई सहज पथ नहीं है और प्रकृति का सर्वांगीण परिवर्तन एक दिन में नहीं किया जा सकता।

२७ मई १९३१

*

इस दुर्बलता को दूर फेंक दो। श्रीमाँ की सहायता उपस्थित है—अपने-आपको नीरव तथा निश्चल बनाये रखो और कठिनाइयों का सामना उस साहस के साथ करो जो एक साधक के अन्दर ईश्वर की खोज के दौरान होना चाहिये।

२२ नवम्बर १९३३

*

एक बार जब व्यक्ति योगमार्ग में प्रवेश कर जाता है तब उसे केवल एक ही चीज़ करनी होती है—उसे दृढ़ता के साथ यह निश्चय करना होता है कि चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, चाहे जो भी कठिनाइयाँ क्यों न उठ खड़ी हों, मैं अन्त तक अवश्य जाऊँगा। सच पूछा जाये तो कोई भी मनुष्य अपने निजी सामर्थ्य के द्वारा योग में सिद्धि नहीं प्राप्त करता—सिद्धि तो उस महत्तर शक्ति के द्वारा आती है जो तुम्हारे ऊपर आसीन है—और समस्त उतार-चढ़ावों में से गुज़रते हुए, लगातार उस शक्ति को पुकारते रहने से ही वह सिद्धि आती है। उस समय भी, जब कि तुम सक्रिय रूप से अभीप्सा नहीं कर सकते, सहायता के लिए श्रीमाँ की ओर मुड़े रहो—यही एकमात्र चीज़ है जिसे सर्वदा करना चाहिये।

३ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

प्रेम के बदले प्रेम

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्नो।। ('धम्मपद' से)

यहाँ (संसार में) वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैर से ही शान्त होता है,
यही सनातन धर्म (= नियम) है।

यह 'धम्मपद' का एक अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक है, उनमें से एक है जो बहुत अधिक उद्धृत किये जाते हैं—मैं यह कहना कहीं अधिक पसन्द करती कि यह ऐसा श्लोक है जिसका दुनिया में सबसे अधिक अनुसरण किया जाता है, परन्तु दुर्भाग्यवश यह बात सच्ची नहीं होगी। क्योंकि लोग इस शिक्षा के विषय में बातें तो बहुत करते हैं पर इसका पालन नहीं करते।

फिर भी, इस समस्या का एक पहलू ऐसा है जिसकी चर्चा कम ही की जाती है, पर यदि तुम चाहते हो कि जगत् की चीज़ों में परिवर्तन आये तो वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह चीज़ ऐसी है जिसकी ओर लोग बहुत कम ध्यान देते हैं। मैं तुम लोगों को आश्चर्य में डाल दूँगी। वह यह है : यदि घृणा के प्रत्युत्तर में प्रेम दिया जाये ताकि संसार परिवर्तित हो सके तो क्या यह बात कहीं अधिक स्वाभाविक नहीं होगी कि प्रेम भागवत प्रेम को उत्तर दे?

यदि कोई मनुष्यों का जीवन, कर्म और हृदय देखे, जैसे कि वे हैं, तो उसे उस सारी घृणा, अवज्ञा, अथवा, कम-से-कम उदासीनता को देख कर उचित रूप में ही आश्चर्य होगा जो इस असीम भागवत प्रेम के बदले में लौटायी जाती है जिसे भागवत करुणा धरती पर उँडेलती है—उस भागवत प्रेम के बदले में जो संसार को भागवत आनन्द की ओर ले जाने के लिए यहाँ प्रत्येक क्षण कार्य कर रहा है और जिसे मानव हृदय में इतना कम प्रत्युत्तर मिलता है। परन्तु लोग दया दिखाते हैं केवल दुष्टों के प्रति, अधमों के प्रति, अवाञ्छनीयों के प्रति, असफल और असफलताओं के प्रति—वास्तव में इससे दुष्टता और असफलता को एक प्रकार का बढ़ावा मिलता है।

यदि कोई समस्या के इस पहलू पर कुछ अधिक विचार करे तो शायद उसे घृणा का उत्तर प्रेम से देने की आवश्यकता पर बल देने की ज़रूरत कम होगी, क्योंकि यदि मानव हृदय अपने अन्दर निरन्तर उँडेले जाने वाले भागवत प्रेम का प्रत्युत्तर सम्पूर्ण सच्चाई के साथ, समझने वाले और मूल्य आँकने वाले हृदय की स्वाभाविक कृतज्ञता के साथ देता तो जगत् में चीज़ें बड़ी तेज़ी से बदलने लगतीं।

२७ सितम्बर १९५७

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १९७-९८

श्रीअरविन्द के उत्तर (७६)

आज का दिन कल से एकदम विपरीत था। मेरे पास काफ़ी शारीरिक काम नहीं था, बल्कि कोई काम ही नहीं था, लेकिन मैं दुःखी नहीं था। थोड़ी फ्रेंच पढ़ने के अलावा मेरे पास पढ़ने के लिए भी और कुछ नहीं था। कुछ स्मृतियाँ उभर आयीं। मुझे लगता है कि आगे कुछ ख़तरा है। अब मैं बेचैनी का अनुभव भी कर रहा हूँ।

बेचैनी को खदेड़ कर बाहर निकाल दो, साथ ही ख़तरे को भी, अगर कोई ख़तरा हो।

बहरहाल, मेरे पास काका से एक चिट्ठी आयी है। उसमें तो उसने अपनी योजना के बदलाव का कोई ज़िक्र नहीं किया है।

५ मार्च १९३५

मैंने सुना कि 'स' बहुत अच्छी फ्रेंच जानता है। मैं सोच रहा था कि अगर उसके पास समय हो तो मैं उसके साथ श्रीमाँ के 'वार्तालाप' या श्रीमाँ की कहानियाँ पढ़ूँ। वह अच्छी अंग्रेज़ी भी जानता है और फ्रेंच के कठिन मुहावरे वगैरह भी समझा सकता है। 'ब' सुव्यवस्थित नहीं है; और फिर वह अंग्रेज़ी के साथ तुलना करके समझा भी नहीं सकता। वैसे 'स' है कैसा? क्या उसके साथ आधे घण्टे बैठना ठीक रहेगा? 'ट' कह रहा था कि वह बहुत जल्दी नाराज़ हो जाता है।

'स' की मनोदशा बहुत बनती-बिगड़ती रहती है और उसका गुस्सा सातवें आसमान पर चढ़ जाता है। मुझे मालूम नहीं कि क्या वह करना चाहेगा या फिर क्या तुम उसके साथ निभा पाओगे? लेकिन यह सच है कि वह अच्छी फ्रेंच जानता है। आश्रम में शायद वह सबसे अच्छा बहुभाषाविद् है।

जब मैं रात के २ बजे उठा तो कामुक-संवेदना के रूप में कुछ ख़तरा उभर आया। उठ कर मैं इधर-उधर चला, फिर सो गया, और मुझे एक सपना आया जिसमें मैं सूरत के रेलवे स्टेशन पर चल रहा था। मैंने एक रिश्तेदार को आते देखा तो मैं छिप गया। फिर मेरा भाई और कई लोग एकदम मेरे पास आ गये। एक भी शब्द बोले बिना मैं उनसे दूर चला गया। उनमें इतना स्वाभिमान था कि वे मुझसे एक शब्द तक न बोले। मैं कुछ दूर आगे बढ़ा और मैंने एक और परिचित को देखा जिसने मेरे पास आने की कोशिश की। मैं उससे बच निकला और यह जानने की

घबराहट में कि पॉण्डिचेरी कैसे पहुँचूँ, आगे ही आगे चलता गया। चार बजे दोबारा मेरी आँख खुली और कामुक-संवेदना फिर से उभर आयी। मैंने उससे अलग होने की कोशिश की और, या तो इस वजह से कि उसमें ज़्यादा बल नहीं था या मैंने सफलतापूर्वक उससे पिण्ड छुड़ा लिया, वह संवेदना धीरे-धीरे धूमिल हो गयी।

मेरे खयाल से रिश्तेदार और दोस्त प्राणिक स्तर की शक्तियों या सत्ताओं के द्योतक हैं—कामुक-भावना अवचेतना के द्वारा, सीधी वहीं से आती है—बहुधा रात ही के समय ये ऐसी चालें चलती हैं क्योंकि जाग्रत अवस्था में मनुष्य चौकस रहता है और मानव सम्पर्क के द्वारा उन्हें अपने पास आने नहीं देता। लेकिन मेरे विचार से सामान्यतया ऐसे प्रहार प्रबल नहीं होते—सिवाय उन पर जो इनके प्रति पूरी तरह से खुले होते हैं और प्रतिरोध करना नहीं जानते।

६ मार्च १९३५

पिछले दो-तीन दिनों से मेरी पत्नी के विचार मेरे आस-पास मँडरा रहे हैं, लेकिन इस समय प्रबल रूप से मुझे घेरे हुए हैं। महीनों तक उसकी कोई याद ही नहीं थी। मुझे पता नहीं कि क्या 'स' के उसकी चिट्ठी के बारे में कहने के बाद मैं उसके बारे में ज़्यादा सचेतन हो गया हूँ—या तो यह चीज़ अब तक मेरे मन में चिपकी हुई है या फिर उसकी तरफ़ से कोई खिंचाव है।

शायद दोनों बातें सच हैं। खासकर इसलिए कि 'स' उसके पिता की क्रानूनी सलाह का लाभ उठाने के लिए उसे चिट्ठी लिखने की बात सोच रहा था।

'र' ने टाइप की हुई एक चिट्ठी में मुझे यह वाक्य दिखलाया जो शायद 'ट' के लिए था: "वे जो श्रीमाँ की ओर खुले हुए हैं, अपनी आन्तरिक सत्ता में उनके समीप हैं, उनकी इच्छा के साथ एक हैं, वे ही माँ के बालक हैं, उनके सबसे निकट हैं—वे नहीं जो भौतिक रूप से उनके एकदम करीब हैं।" ... चाहे वह 'प' हो, 'म' हो, 'द', 'स' या 'न' कोई भी क्यों न हो। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि श्रीमाँ के साथ की भौतिक निकटता का कोई विशेष लाभ नहीं है।

'माँ की इच्छा के साथ एक होना' या उनके प्रति पूरी तरह खुला रहना इतना आसान नहीं है। भौतिक रूप से निकट होने पर प्रगति के लिए, पूर्णता के लिए एक सतत दबाव तो बना ही रहता है जो आज तक कोई सफलतापूर्वक कर नहीं पाया है। इस विषय में लोगों के रूमानी विचार होते हैं जो सच नहीं होते।

निस्सन्देह, 'अ', 'क' और 'ल' जैसे कई साधक होंगे जो माँ से बहुत बार नहीं मिलते, लेकिन मिलने वालों के जितना या उनसे भी ज़्यादा उनके प्रति "खुले रहते, अपनी आन्तरिक सत्ता में उनके निकट रहते और उनकी इच्छा के साथ एक होते हैं"। बहरहाल, बाहरी जगत् में भी इसी तरह के भक्त, ज्ञानी या योगी तो होंगे ही! लेकिन फिर भी, भौतिक सामीप्य का अपना मूल्य होता ही है, और शायद 'ट' आपके दिये उत्तर से फ़िलहाल सन्तुष्ट हो जाये, लेकिन मुझे नहीं लगता कि मैं इतनी आसानी से इसे मान लूँगा!

माँग थी कि अन्दर रहा जाये और सारे समय माँ से मिलने की छूट हो (जिसकी किसी को भी अनुमति नहीं है, न 'प' को, न 'म' को, न ही और किसी को) और यह कि यहाँ के सदस्यों के दर्जे के समान या उनसे ऊँचा उनका दर्जा हो। ऐसी माँग प्रवेश पाने के कारणों के सम्पूर्ण अज्ञान को दर्शाती है (इसमें विशेष कृपा या अनुग्रह का कोई वास्ता नहीं है)...। अगर उसे आने की अनुमति मिल जाती, कुछ दिनों के लिए भी उसे यह असह्य ही लगता। लेकिन तुम इसमें 'च' और 'न' को क्यों सम्मिलित कर रहे हो? 'च' केवल अपने काम के लिए 'अ' के साथ आता है और 'न' 'ट' से ज़्यादा श्रीमाँ से नहीं मिलता। 'प', 'म' और 'ड' की बात अलग है—उनके ज़िम्मे विशेष काम है जिसके लिए उनका माँ के निकट रहना और प्रायः उनसे मिलना ज़रूरी होता है। इसका साधना में वरीयता पाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, जैसा कि तुमने स्वयं ही 'अ' इत्यादि के उदाहरण देकर दर्शाया है।

'त्र' पहले से ही नौकरानी के विषय को लेकर 'अ' से नाराज़ था, जब वह सवरे ८ के बाद भोजनालय गया, और वह ज़्यादा भड़क गया जब वहाँ जाकर उसे फ़ोसकाओ (कोको) नहीं मिला। 'स' ने कहा कि उसका नाश्ता नहीं रखा गया! जब वह बाहर निकल रहा था तो 'स' ने उसे बुला कर कहा, "अगर तुम चाहो तो वह दूसरी थाली ले सकते हो"—वही थाली जिसे पहले उसने उसे लेने से मना किया था। 'त्र' ने विश्कोभ और उदासी के लहजे में मुझे यह सब सुनाया। तो मैं 'ड' की खोज में निकला, लेकिन वह अपने कमरे में नहीं था। फिर मैं 'ब' के पास यह देखने गया कि क्या उसके भण्डार में कुछ ऐसा है जो मैं 'त्र' के लिए ले जा सकूँ। सौभाग्यवश उसके पास कुछ डबलरोटी और मक्खन था। मैंने 'त्र' को बुलाया और उसके लिए तो अप्रत्याशित दावत हो गयी, उसका अवसाद गायब हो गया। उसके साथ मेरी शान्ति भी भंग हो गयी—कई घण्टों बाद मैं उसे पा सका।

मेरे ख़याल से, उस महाभोज ने तुम्हारी अचञ्चलता को सोख कर तुम्हें चञ्चल बना दिया!

७ मार्च १९३५

मैं सुबह जल्दी उठ गया और बहुत तीव्रता के साथ कामुक-संवेदना को अनुभव करने लगा, हालाँकि मेरा किसी के साथ कोई सम्पर्क तक नहीं था। बाद में, खाने के बाद जब मैं अपने कमरे में कुछ देर के लिए गया तो मुझे उसी समान संवेदना का अनुभव हुआ और मुझे कमरे से बाहर आना पड़ा। ऐसा लगा कि इसका कारण मानसिक नहीं बल्कि पेट और अंतड़ियाँ थीं। पहले तो यह शारीरिक कारण था, लेकिन बाद में इसने क्रमशः मन को घेरना शुरू कर दिया, उसके बाद कल्पना के घोड़े दौड़ने लगे।

यही है कठिनाई। कल्पना का अर्थ ही है, भौतिक या प्राणिक मन की स्वीकृति। संवेदना का अनुभव बहुधा भौतिक कारणों से ही होता है, और अगर उसे मन की स्वचालित स्वीकृति का सहारा न मिले तो वह बार-बार आने की अपनी आदत खो बैठेगी।

८ मार्च १९३५

लगता है कि मैंने अपने कमरे का वातावरण ही ऐसा बना लिया है कि वह प्रायः ही कामुक-संवेदना को उत्तेजित करता रहता है। बहरहाल, मेरा अपना वातावरण सेक्स से भरा होगा और दूसरों को भी ऐसे स्पन्दनों का अनुभव होता होगा।

हो सकता है... अगर व्यक्ति इसके विपरीत, यानी शान्ति, पवित्रता तथा विस्तृत अचञ्चलता के स्पन्दन ले आये तो किसी भी कमरे का वातावरण बदलना मुश्किल नहीं है।

आज मैंने निश्चय किया कि काम के समय बिल्कुल कुछ नहीं पढ़ूँगा और देखूँगा कि मुझे कैसा अनुभव होता है या मैं इसमें कितना सफल हो रहा हूँ। इसका फल यह निकला कि मैं मज़दूरों के साथ-साथ रहा और जहाँ तक सम्भव हुआ मैंने छोटे-छोटे व्योरों पर भी ध्यान दिया। सच है कि इस चीज़ का मैंने एकदम पूरा-पूरा पालन नहीं किया, क्योंकि दो बार मैंने कुछ मिनटों के लिए कुछ पढ़ा, लेकिन पढ़ने की मेरी भूख के सामने, जिसके चंगुल में मैंने अपने-आपको पूरी तरह फँसा दिया है, यह एकदम नगण्य था। व्यक्ति पढ़ने के समय इतना नहीं जितना कि काम करते समय अधिक अपने अन्दर जाता है—यह सोचना तो माया ही है कि पढ़ना व्यक्ति को अधिक अन्तर्मुख बना देता है।

वास्तविक अर्थ में यह व्यक्ति को अन्तर्मुख नहीं बनाता—बस यह व्यक्ति को बाहरी चेतना के अधिक भौतिक भाग से अधिक मानसिक भाग में ले जाता है।

‘ग’ ने अपने हाल के गुजरात के दौरे के बारे में मुझे बतलाया। सरदार वल्लभभाई ने उससे पूछा कि आप कब बाहर आकर लोगों का मार्गदर्शन करेंगे। मैं इस प्रश्न पर मुस्कराया-भर, क्योंकि यहाँ के १५० साधकों का मार्गदर्शन करना मुश्किल है, या यह कहें कि उन १५० लोगों को भी आपके बताये मार्ग का अनुसरण करना मुश्किल लगता है। तब बाहर के इतने लोगों का मार्गदर्शन करना कितने बड़े परिश्रम का काम होगा! निस्सन्देह, बाहर के लोग आशा कर रहे हैं कि आप यौगिक शक्ति के साथ राजनीति में कुछ करेंगे। ‘ग’ ने सीधा जवाब दे दिया कि ऐसी किसी चीज़ की आशा वे न करें। लेकिन मुझे लगता है कि वल्लभभाई ने यह व्यंग्य में कहा होगा जिसे ‘ग’ पकड़ नहीं पाया।

शायद नहीं। औरों की तरह वल्लभभाई भी यह नहीं समझना चाहते कि अब मेरे वापस आये बिना भी मेरे द्वारा एक ऐसे आध्यात्मिक जीवन को अपनाया जा सकता है जिसमें महानतम भारत (या संसार) की महानतम भलाई हो। टैगोर ने भी आशा की थी कि मैं वापस आऊँगा, लेकिन उनकी बात न मानने के कारण उन्हें बड़ी निराशा हुई।

९ मार्च १९३५

आज चार बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा : १. कोई भी राजमिस्त्री नहीं आया, लेकिन मैंने एक कुली को लेकर किसी तरह काम चलाया। २. मेरी लापरवाही से बड़े गोदाम में या तो पानी का पाइप आधा खुला रह गया या रात को हवा से पाइप के हैण्डल में लगी बाँस की लकड़ी खिसक गयी। सारी रात पानी बहा होगा। कितना मूर्ख हूँ मैं कि कल आते समय मैंने इस सबकी जाँच नहीं की।

लेकिन क्या रात को नगरपालिका की तरफ़ से पानी का आना बन्द नहीं हो जाता?

३. हमेशा की तरह मैं ज़ीने पर बैठने गया। ‘स’ वहाँ बैठी हुई थी, दुर्भाग्य से उसकी मुस्कान के जवाब में मैं भी मुस्करा दिया। वहाँ बैठना व्यर्थ हो गया, क्योंकि मुस्कान के फलस्वरूप भौतिक कामुक-बेचेनी उठ आयी और मुझे वहाँ से हटना पड़ा। ४. फिर ‘प’, जिसके पास अपने अतीत और बाहर के लोगों को छोड़ कर बात करने का प्रायः और कोई विषय नहीं होता, मेरे साथ आध घण्टे तक बातें करता रहा, और लो, मैं चला गया अवचेतना के अगाध गड्ढे में!

मैं समझ सकता हूँ कि ‘स’ की मुस्कान और ‘प’ के साथ आध घण्टे की बातचीत “बड़ी मुसीबतें” बन सकती हैं। बहरहाल, मैं आशा करता हूँ कि अब तक तुम उस गड्ढे से बाहर

निकल आये होंगे। अवाञ्छनीय चीज़ों की आदत ही होती है, भरभरा कर टूट पड़ना—चलो, अब आशा करें कि इसके बाद सुखद चीज़ें आनी शुरू हो जायेंगी।

१० मार्च १९३५

‘स’ द्वारा ‘त्र’ को झूठा कहने के बाद ‘त्र’ बौखला गया। उसने विचारों का अपना सारा गुबार मेरे सामने निकाल दिया और अपने साधु-जीवन की सारी कहानी मुझे सुना दी। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि उस दिन की घटना का कुछ लोगों से झिंक्र करने की वजह से ‘स’ उस पर इतना रोष क्यों दिखा रही है? मैं तो यही समझता था कि ‘स’ बहुत खुशमिज़ाज और मस्तमौला जीव है। लेकिन मानों उसकी नाराज़गी को आजमाने के लिए ‘त्र’ रोज़-रोज़ कुछ कर ही बैठा है।

‘त्र’ के साथ घट रही चीज़ों की सच्ची वजह यही है। जब साधक को अपने स्वभाव की किसी चीज़ पर विजय पानी होती है तो वह हमेशा अपने ऊपर ऐसी घटनाओं को आकृष्ट करता रहता है जो उसे तब तक कसौटी पर कसती रहती हैं जब तक वह उन पर विजय पाकर उनसे मुक्त नहीं हो जाता। ये चीज़ें ख़ासकर तब ज़रूर होती हैं जब व्यक्ति इन पर विजय पाने के लिए सच्ची कोशिश करता है। व्यक्ति हमेशा यह नहीं जानता कि क्या वे विरोधी शक्तियाँ हैं जो उसके निश्चय को तोड़ने की कोशिश कर रही हैं या उसे कसौटी पर कस रही हैं (क्योंकि वे यह दावा करती हैं कि यह उनका हक है), या फिर, यह कहें कि भगवान् यह सब कर रहे हैं ताकि साधक पर दबाव डाल कर उसकी प्रगति को तेज़ कर दें या साधक जिस परिवर्तन के लिए अभीप्सा कर रहा है उसकी वास्तविकता और पूर्णता पर ज़ोर देकर उसे उसके लक्ष्य की ओर बढ़ा दें। अगर व्यक्ति इस दूसरे दृष्टिकोण को अपनाये तो सम्भवतः उसे सबसे अधिक सहायता मिलती है।

एक मुस्कान में भला ऐसा क्या होता है कि वह अपने साथ सेक्स की सभी यादें और रूपक ले आती है? मैंने ‘स’ को देखा भर जब मैं ज़ीने पर रोज़ की तरह चुपचाप बैठने के लिए आया, और उसकी गुज़रती हुई एक मुस्कान तुरन्त कामुक-संवेदना ले आयी। फिर मेरे लिए वहाँ बैठना सम्भव न रहा! मैं उसके बारे में भूल गया, फिर रात को वह याद लौट आयी और उसके साथ बाक़ी सब कुछ मेरे ऊपर भौतिक क्रिया की हद तक टूट पड़ा, आत्म-संयम का लेशमात्र भी न रह पाया।

किसी स्त्री की मुस्कान या कोई गति, हाव-भाव या क्रिया इन स्पन्दनों का आरम्भ-बिन्दु हो सकती है। मुझे नहीं लगता कि स्वयं मुस्कान में कोई ऐसी चीज़ होती है, लेकिन इस तरह के हाव-भाव वे सामान्य चीज़ें हैं जिनसे पुरुष में कामुकता जगती है और पुरुष के साथ सम्पर्क

में आने पर स्त्रियाँ बहुधा अचेतन रूप में, मात्र आदतन, इनका उपयोग करती हैं—भले पुरुष को खुश करने या विचलित करने की उनकी कोई मंशा हो या न हो। 'स' इस तरह की स्त्री है जिसके अन्दर पुरुषों को रिझाने की सहज वृत्ति है। लेकिन तब भी जब संयोगवश कोई स्त्री इस आदतन सहज क्रिया के बावजूद, किसी पुरुष को देख कर मुस्कुराती है तो पुरुष की तरफ से, नारी के प्रति आकर्षण के प्रत्युत्तर की आदत से स्पन्दन पैदा हो ही जाते हैं। ये चीजें यान्त्रिक रूप से हो जाती हैं। जैसा कि मैंने पहले लिखा था, यह भौतिक या प्राणिक मन (कल्पना इत्यादि) का सहज प्रत्युत्तर होता है जो उसे बढ़ावा देकर प्रभावी बना देता है। ऐसा न हो तो कुछ समय बाद स्पन्दन फीके पड़ कर खतम हो जायेंगे।

११ मार्च १९३५

जब शान्ति की लहर चलती है तो व्यक्ति की बातचीत करने या दूसरों के साथ सम्पर्क साधने की इच्छा नहीं होती। लेकिन ऐसा हमेशा नहीं बना रहता, और व्यक्ति अलग-थलग हो जाता है। जैसा कि आपने एक बार लिखा था, जब साधक अलग-थलग हो जाता है, अपने-आपको औरों से प्रायः काट लेता है (यानी, दूसरों से मेल-जोल नहीं रखता) तो विरोधी शक्तियों के लिए साधक को पूरी तरह से असन्तुलित कर देना आसान हो जाता है। इसलिए साधना में सचमुच प्रगति करने के लिए दूसरों के साथ सम्पर्क काट देने और अपने-आपको अलग-थलग करने की कोई ज़रूरत ही नहीं है न? इस तरह सम्बन्ध काट देना क्या सचमुच महत्त्व रखता है?

जब कोई शान्ति की तीव्रता में रहता है तो मौन रहना या सम्पर्क न रखना एक बात है—यह किया जा सकता है। अलग-थलग रहने को अपने जीवन का नियम बना लेना मुझे आवश्यक नहीं मालूम होता—यह केवल उन्हीं के लिए सुरक्षित हो सकता है जो बाहरी वास्तविकता की पकड़ को छोड़े बिना, पूरी तरह से अपने अन्दर जी सकें। अगर कोई अपने अन्दर शान्ति का ठोस आधार हमेशा बनाये रखे तो वह एकदम अलग रह सकता है या अपने सन्तुलित मन और विवेकशक्ति के साथ सतत अनुभूतियाँ पाते हुए, संसार में रहते हुए भी वह अपना एकान्त योग कर सकता है। लेकिन कुछ लोग अपनी आन्तरिक अनुभूतियों में इतने लीन हो जाते हैं कि उनमें एकदम खो-से जाते हैं, उत्कटता के साथ उनसे आसक्त हो जाते हैं और यह आन्तरिक जीवन उनके लिए एकमात्र वास्तविकता बन जाता है, जब कि उनका बाहरी जीवन स्थिर नहीं रहता और उसे वे नियन्त्रित नहीं रख पाते—यहीं आ खड़ा होता है खतरा। दूसरी ओर, अगर व्यक्ति आन्तरिक स्थिरता और सतत अनुभव के सहारे के बिना, सबसे अलग रह कर जीवन बिताये तो जब कभी वह रिक्तता के दौर से गुज़रता है तो प्राण सिर उठा सकता है जिससे संघर्ष, कठिनाइयाँ, अशान्ति, हर तरह के सुझाव, विक्षोभ और अव्यवस्था पैदा हो

सकते हैं—इसलिए एकदम से एकान्त जीवन बिताने की अपेक्षा—जैसा कि कुछ लोग करते हैं—ज़्यादा अच्छा है कि दूसरों के साथ मेल-जोल रखा जाये, कुछ काम किया जाये या स्वस्थ रूप में बहिर्मुख हुआ जाये।

कामुक-संवेदना और उसके फलस्वरूप निरन्तर भौतिक प्रलोभन का एकमात्र सम्भव उपाय यही है कि शरीर पर प्रहार किया जाये, ताकि दर्द संवेदना के सुख को ढंक दे। मुझे यही वह एकमात्र भौतिक और निजी तरीका दीखता है जो मुझे अपने ऊपर अपनाना चाहिये जब तक कि सच्चा संयम स्थापित नहीं हो जाता। कामुक आदत उस बिन्दु तक पहुँच गयी है जो यहाँ आने से पहले मेरी थी जब मैं प्रायः रोज़ उसकी पकड़ में होता था। किसी तरह यह पृष्ठभूमि में बनी रही, लेकिन अब यह एकदम से उमड़ आयी है, और अब जब तक कि मैं कोई कठोर क्रदम नहीं उठाता, मुझे इससे निकलने का रास्ता नहीं सूझ रहा। लेकिन जब कभी मैंने ऐसा किया, मुझे याद है कि आपने इसकी सहमति नहीं दी, और उसे एक साधन के रूप में लेने की जगह—जो कभी-कभी उपयोगी भी होता था—मैंने अपने-आपको यातना देने की आदत-सी डाल ली। मेरी समझ में नहीं आता कि आप इससे सहमत क्यों नहीं हैं, केवल इसलिए कि यह आत्म-प्रताड़ना है। हस्त-मैथुन से तो यह ज़्यादा अच्छा है। हस्त-मैथुन का परिणाम यह होता है कि हर दूसरे दिन मेरे अन्दर यहाँ से चले जाने का विचार उठता रहता है। उस हालत में, क्या चीज़ ज़्यादा अच्छी है?

निश्चित रूप से, हस्त-मैथुन से यह ज़्यादा है, उससे तो बस बुरे परिणाम ही आ सकते हैं। आत्म-संयम ही सबसे अच्छी चीज़ होगी—दूसरी चीज़ मुझे बहुत उग्र लगती है—लेकिन अगर केवल यही प्रभावकारी है तो!

१२ मार्च १९३५

‘च’ ने ‘स’ से कहा कि आश्रम में चार लोग पागल हो गये, और यह भी कि ‘ट’भी उनमें से एक है। ‘ट’ मुझसे कभी-कभी मिलती है, लेकिन मुझे कभी उसमें ऐसे लक्षण नहीं दीखे। ‘च’ ने यह भी कहा कि उन चारों में से एक स्टेशन तक चला गया था, शायद उसने मेरा भी ज़िक्र किया था, और कोई उसे वापस लौटा लाया। तो मुझे भी पागलों की सोसायटी का एक सदस्य बनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया!

‘ट’ में कुछ दिमागी रक्तसंकुलता और विक्षुब्धता है; मुझे आशा है कि वह जल्दी ही अच्छी हो जायेगी। चौथा पागल कौन है (अगर तुम तीसरे हो)? मेरे खयाल से पहला ‘ड’ है; लेकिन चौथा कौन है? मैं पकड़ नहीं पा रहा!

मैं अलग रहने की कठिनाई को ज़रा दूसरे अर्थ में ले रहा था। ठोस रूप में कहूँ तो यह कि मैं 'अ', 'स', 'ल', 'ट', 'प', 'च' तथा दूसरों के साथ बातचीत कर रहा था, उनके साथ सम्पर्क रख रहा था। फिर, या तो परिस्थितिवश या कुछ गलतफ़हमियों की वजह से मैंने उनके साथ सम्बन्ध काटने शुरू कर दिये और जब तक मेरे अन्दर शान्ति की क्रिया चल रही थी, सब ठीक था। फिर एक दिन, किसी चीज़ का हस्तक्षेप हो गया। मेरा सन्तुलन बिगड़ गया और इन लोगों के सम्पर्क के बिना भी मेरे अन्दर कामुक-क्रिया शुरू हो गयी। कामुक-कल्पनाएँ उठने लगीं और हमेशा की तरह उसका अन्त हुआ, आत्म-निन्दा या यहाँ से भाग जाने की सोच में। प्रश्न यह है कि सभी सम्पर्कों को काट देना इस संकट का एक कारण था, या फिर मेरे लिए किसी के भी साथ सम्बन्ध नहीं रखना ज़रूरी था, जैसा कि मैंने अधिकतर साधिकाओं के साथ किया (हालाँकि, कुछ के साथ सम्बन्ध तोड़ने में मुझे बेचैनी हुई), या फिर, मेरा अलग-थलग रहना आत्म-प्रतारणा को मुझसे दूर रखता। क्या मैं साधिकाओं के साथ सारे सम्बन्ध काट दूँ (बातचीत तक)? मैं उनके साथ एकाध शब्द बोल लिया करता था जब तक कि हस्त-मैथुन का संकट नहीं आया, और अब मुझे शंका हो रही है कि मेरा इस तरह करना ठीक था या नहीं।

मुझे नहीं लगता कि इस तरह सामान्य रूप से सभी सम्पर्कों को काट देना उचित है—बस वहीं पूरी तरह तोड़ने चाहियें जहाँ अवाञ्छनीय परिणाम आये, जैसा कि 'व' या 'च' के साथ हुआ।
 १३ मार्च १९३५ —श्रीअरविन्द